चित्त-शुद्धि

• भाग–२ •

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन–२८११२१ (मथुरा)

चित्त–शुद्धि

भाग–२

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन सन्त प्रवर
पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्द जी महाराज की
अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव–सेवा संघ, वृन्दावन

सर्वाधिकार सुरक्षित

२०१५ वि०, १५ अगस्त, १९५८
प्रथम संस्करण–३००० प्रतियाँ

२०२२ वि०, २५ मई, १९६५
द्वितीय संस्करण–३००० प्रतियाँ

२०३३ वि० ४ मार्च १९७७
तृतीय संस्करण–४,४०० प्रतियाँ

२०४५ वि०, २९ जुलाई १९८८, गुरु पूर्णिमा
चतुर्थ संस्करण (दो भागों में) ४००० प्रतियाँ

२०५५ वि०, १ अक्टूबर १९९८, दशहरा
पंचम संस्करण (दो भागों में) ४००० प्रतियाँ

मूल्य रु ८ ३ ००

मुद्रण–संयोजन : चित्रलेखा, श्रीहरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, वृन्दावन
फोन : (0565) 442415, 443415

भूमिका

जब बाहर का संघर्ष मनुष्य के जीवन में जागृति लाता है, तब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अपना अन्तः–निरीक्षण (Introspection) करते ही उसे बाहर से भी अधिक भयावह संघर्ष का दर्शन भीतर होता है, जिसे देखकर वह एक बार घबड़ाता है। फिर उस संघर्ष से छुटकारा पाने के लिये अपने प्रयत्न में लग जाता है। मानवता की ओर गतिशील होने वाले व्यक्ति के जीवन का पहला प्रश्न है–अन्तर्द्वन्द्व मिटाना। साधनयुक्त जीवन का ही नाम मानव–जीवन है। इस दृष्टि से व्यक्ति जब जीवन को साधनमय बनाने चलता है, तो पहली बाधा कहें, अथवा पहली मंजिल कहें, चित्त की अशुद्धि का प्रश्न उसके सामने आता है।

जैसे खेत में अन्न उपजाने के लिये उसके झाड़–झंखाड़ को समूल नष्ट कर खेत तैयार किया जाता है, तभी उसमें बीज डालने पर पौधे लहलहाते हैं, वैसे ही किसी भी विध्यात्मक साधन को सफल बनाने के लिये चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है, जिसके बिना कोई भी विध्यात्मक साधन में कभी भी सफल नहीं हो सकता। अतः मानव के जीवन में साधन के पथ में पहला प्रश्न है– चित्त को शुद्ध करना। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय की विशद व्याख्या अनेक रूपों में अनेक ढंग से विभिन्न योग्यता, विचार और स्तर के साधकों के चित्त की दशा पर दृष्टि रखकर की गई है।

साधारणतः जब इन्द्रिय–ज्ञान और बुद्धि–ज्ञान का संघर्ष चलता है, तो हम चित्त का एक अलग ही अस्तित्व मान लेते हैं और उसको अपने अधीन करने का विफल प्रयास करते हैं। उसकी निन्दा करते हैं, हार मानते हैं, साधन कठिन बताते हैं और अपनी विवशता कहकर जी चुराते हैं।

चित्त–शुद्धि के प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह प्रकाश मिलता है कि

चित्त कर्त्ता नहीं है, करण है। अशुद्धि उसका दोष नहीं है, अपना दोष है। व्यक्ति ने स्वयं उसे अशुद्ध किया है और वह स्वयं उसे शुद्ध भी कर सकता है।

समस्त सृष्टि में जो शक्ति (Universal energy) निरन्तर कार्य कर रही है, "चित्त" उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है।

इस विवेचन में 'चित्त' शब्द का प्रयोग अन्तःकरण के अर्थ में किया गया है। यह जीवन के एक पहलू के कार्यों का प्रतीक मात्र है। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे (Psychic Apparatus) कहते हैं, उसकी क्रियाओं के फल का आधार चित्त है। इन्द्रिय—ज्ञान का प्रभाव इसमें अंकित होता है। प्रभाव जब तक अंकित होता रहता है, तब तक चित्त का अस्तित्व भासता है। जब अंकित प्रभाव मिट जाता है, तब चित्त का भास नहीं होता।

चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, जो स्वयं—प्रकाश है, उसमें अशुद्धि का प्रवेश हो नहीं सकता। इसलिए जिसमें अशुद्धि का प्रवेश है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। फिर जिसके स्वतन्त्र अस्तित्व का भास ही अशुद्धि पर निर्भर करता है, उसके अस्तित्व का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

सीमित अहम्भाव की स्वीकृति से कर्त्तृत्व का अभिमान और वस्तुओं के संबंध से भोक्तृत्व की रुचि उत्पन्न होती है। उनका प्रभाव जिसमें अंकित होता है, उसका नाम है 'चित्त'। जैसे Mind शब्द का कोई Objective पहलू नहीं है, वैसे ही 'चित्त' शब्द का कोई स्थूल रूप नहीं है। इसकी क्रियाओं द्वारा इसका भास होता है।

सुने हुए, माने हुए, व्यक्त—अव्यक्त, भुक्त—अभुक्त इन्द्रियजनित सुख का राग अंकित होने के कारण जब संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख—दुःख का प्रवाह चलने लगता है, तब हम कहने लगते हैं कि चित्त दुःखी है, खिन्न है, प्रसन्न है, चंचल है और द्वन्द्व

से भरा है आदि—आदि। व्यक्त और अव्यक्त रूप से चलने वाले आन्तरिक संघर्ष के कारण "जीवनी—शक्ति" (Libidinal Force) चित्त के द्वन्द्व और उसके दमन में व्यय होने लगती है, तब दैनिक जीवन के अभियोजन (Adjustment) एवं विध्यात्मक साधन के लिये सामर्थ्य और अवकाश नहीं रह जाता। साधक चित्त को जिसमें लगाना चाहता है वहाँ लगता नहीं और जहाँ से हटाना चाहता है वहाँ से वह हटता नहीं। चित्त साधक के अधीन नहीं रहता, वरन् साधक अपने को अपने चित्त के अधीन पाता है। यही चित्त की सबसे बड़ी अशुद्धि है।

चित्त के शुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि चित्त के अस्तित्व का भास मिट जाना ही इसकी शुद्धि है। निर्विकारता आ जाय और वास्तविक जीवन से भिन्न का अस्तित्व न रह जाय—यही शुद्ध चित्त का स्वरूप है। चित्त का स्वरूप, उसका कार्य, उसकी अशुद्धि और शुद्धि के संबंध में उपर्युक्त निश्चित धारणा (Definite conception) लेकर अशुद्धि के कारण, शुद्धि के उपाय और उसके परिणाम का विशद विवेचन सम्पूर्ण पुस्तक में किया गया है। चित्त की अशुद्धि के स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप का उल्लेख किया गया है, यथा—

१—"सामर्थ्य का दुरुपयोग चित्त की अशुद्धि है।

२—"दोष की वेदना का न होना चित्त की अशुद्धि है;"

३—"कर्त्तव्य का ज्ञान न करना, विश्राम न पाना और जिसको अपना माना उसको प्यार न करना अस्वाभाविकता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है।"

४—"किसी भी की हुई, सुनी हुई और देखी हुई भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को, अथवा दूसरे को सदा के लिये बुरा मान लेना चित्त की अशुद्धि है।"

५—"वर्तमान की नीरसता चित्त की अशुद्धि का परिचायक है।"

६—"व्यर्थ चिन्तन, चित्त को शान्त नहीं होने देता।"

७—"वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्यांकन करने से चित्त अशुद्ध होता है।"

८—"संयोग की दासता और वियोग का भय चित्त की अशुद्धि है।"

९—"करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहने से चित्त अशुद्ध होता है।"

१०—"ज्ञान और जीवन में भेद होना चित्त की अशुद्धि है।"

११—"साधक अपने व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।"

१२—"चित्त को दबाये रखना चित्त की अशुद्धि का पोषक है।"

१३—"संकल्पों की उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन—बुद्धि चित्त की अशुद्धि है।"

१४—"अहम्—भाव का महत्त्व चित्त की अशुद्धि है।"

१५—"चित्त—शुद्धि की साधना में श्रम और कठिनाई का अनुभव एक अस्वाभाविकता है। यह चित्त की अशुद्धि है।"

१६—"सीमित गुणों का भोग अशुद्धि है।"

१७—"साधन—मार्ग की प्राप्त सिद्धियों में सन्तुष्टि शुद्धि में बाधा है।"

१८—"सीमित अहम्—भाव का नाश न होना मौलिक एवं अन्तिम अशुद्धि है।"

साधक अपने चित्त की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं जानता। वह ज्यों ही अपनी मौलिक माँग (जीवन, सामर्थ्य, रस) की पूर्ति के लिये साधन में प्रवृत्त होना चाहता है, त्यों ही चित्त की अशुद्धि से उसकी मुठभेड़ होती है और बेचारा अजान साधक वहीं उलझ जाता है। अनमोल जीवन का बहुत बड़ा भाग चित्त से सुलझने में ही निकल जाता है। साधकों की इस दशा को दृष्टि में रखकर जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूत अशुद्धियों से प्रत्येक निबन्ध को प्रारम्भ किया गया है

और उन अशुद्धियों के कारण तथा शुद्धि के अति व्यावहारिक उपाय बताये गये हैं। यद्यपि चित्त की अशुद्धि का मौलिक कारण एक ही है–वस्तु, अवस्था और परिस्थिति में जीवन–बुद्धि की स्वीकृति; तथापि यह मौलिक अशुद्धि विभिन्न व्यक्तियों के चित्त में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। इसलिये साधक के चित्त में अशुद्धि जिन–जिन रूपों में व्यक्त होती है, उनका उल्लेख किया गया है, जिससे साधक को पुस्तक की विषय–वस्तु अपने जीवन की विषय–वस्तु मालूम हो।

शिक्षा–विभाग में साहित्य के पाठ्यक्रम में जिस प्रकार वर्णमाला परिचय से लेकर भाषा–विज्ञान (Philology) का क्रम दिया जाता है और छात्र अपनी वर्तमान योग्यतानुसार अध्ययन आरम्भ करता है, वैसे ही प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न स्तर के साधकों के लिये कर्म, चिन्तन एवं स्थिति–काल की विभिन्न अशुद्धियों एवं उनके मिटाने के उपायों का विवेचन किया गया है। इस पुस्तक में प्रत्येक साधक को अपने चित्त का चित्र देखने को मिल सकता है और वह अपने योग्य साधन को अपनाकर अपना चित्त शुद्ध कर सकता है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातें जो इस चित्त–शुद्धि के विवेचन में मुझे मिलती हैं, वे निम्नलिखित हैं–

१–"चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।"

२–"चित्त 'करण' है, कर्त्ता नहीं।"

३–"इसकी अशुद्धि अपना बनाया हुआ दोष है, इसलिए अपने द्वारा मिटाया जा सकता है।"

४–"जब चित्त का ही स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तो अशुद्धि स्थायी हो नहीं सकती, इसलिये अशुद्धि का नाश अवश्यम्भावी है।"

५–"सर्वांश में चित्त किसी का अशुद्ध नहीं है।"

६–"विवेक के अनादर से अशुद्धि उत्पन्न हुई है। अतः विवेक के आदर से इसका नाश निश्चित है।"

७–"विवेक प्रत्येक मानव को सदा से प्राप्त है।"

८–"निज–विवेक के आदर द्वारा प्रत्येक साधक युग–युग की अशुद्धि को वर्तमान में मिटाने में समर्थ है।"

९–"अशुद्धि के मिटते ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति का साधन सुलभ हो जाता है, अर्थात् साधन और जीवन में अभिन्नता हो जाती है।"

१०–"चित्त–शुद्धि साधक का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है।"

११–"अशुद्धि के ज्ञान में शुद्धि का उपाय निहित है।"

१२–"एक बार शुद्धि आ जाने पर फिर अशुद्धि नहीं आती।"

चित्त–शुद्धि के संबंध में निर्दिष्ट उपर्युक्त प्रत्येक तथ्य साधक के पथ को प्रशस्त करने वाला है। जैसे, कोई व्यक्ति धूमिल प्रकाश में अपनी विकृत प्रतिच्छाया को देखकर प्रेत के भय से आक्रान्त हो गया हो और यदि यह बता दिया जाय कि वह प्रेत नहीं, उसकी अपनी ही छाया है, तो वह निर्भय होकर हँसने लगेगा। उसी प्रकार उपर्युक्त तथ्य चित्त की विकृति, चंचलता और उसको जीतने की दुरूहता के भय से आक्रान्त साधक को भय–मुक्त करने वाले हैं।

साधक चित्त की अशुद्धि से घबड़ाते क्यों हैं ? क्योंकि वे नहीं जानते कि अशुद्धि अस्तित्व–विहीन है, वे नहीं जानते कि यह प्रमाद–जनित है। उन्हें यह विश्वास नहीं रहता कि चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है। अनजान में ही वे विध्यात्मक–साधन अपनाने का विफल प्रयास करते हैं, चित्त को बलपूर्वक दबाते हैं, थककर सफलता से निराश होने लगते हैं और अपने साधन में सन्देह करने लगते हैं, जो साधक के जीवन का सबसे काला भाग है।

प्रस्तुत पुस्तक में चित्त–शुद्धि का जो विवेचन दिया गया है, वह साधकों का भ्रम मिटाकर उनके साधन को सजीव बनाने वाला है। चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है, यह बात स्वीकार करते ही साधक में अदम्य उत्साह उत्पन्न होता है और वह साधन में तल्लीन

हो जाता है।

चित्त–शुद्धि का विषय मानव–जाति के मानसिक स्वास्थ्य के पहलू पर प्रकाश डालता है। आधुनिक युग में मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये बड़े–बड़े सिद्धान्त निर्धारित किये जा रहे हैं, क्योंकि आज मनुष्य का अभियोजन (Adjustment) अपेक्षाकृत कठिन हो गया है। विचारक इस बात को समझने लगे हैं कि असन्तुलन का कारण बाहर की अपेक्षा मनुष्य के भीतर अधिक है। मानसिक विकृतियों से पीड़ित भाई–बहनोंके लिये मानसिक चिकित्सालयों पर अपार धन–राशि खर्च हो रही है। कितने ही प्रतिभाशाली अन्वेषक रोगियों के दुःख से पीड़ित होकर अपना जीवन रोगों के कारण और उनके निवारण की खोज पर लगाये जा रहे हैं। फिर भी स्विट्जरलैण्ड के विख्यात मानसिक रोगों के चिकित्सक और मनोविज्ञान के अध्यापक (Psychiatrist एवं Psychology Teacher) डा० बॉस (Dr. Boss) के व्यथित हृदय से निराशाभरी वाणी निकलती है–

"As we study more and more in Psychology, we find ourseleves hanging in the air. Our findings are baseless. I have come to Indian Saints to find something more soild, more dependable which we can give to our students."

शब्दावली मुझे ठीक याद नहीं है। पर सारांश यही है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में जितना अधिक अध्ययन करते हैं, उतना ही अधिक उनका ज्ञान निराधार मालूम होता है। वे चाहते हैं कि कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व प्राप्त हो। इसी के लिये वे भारतीय सन्तों के पास आते हैं, ताकि अपने विद्यार्थियों को कुछ अधिक विश्वसनीय तत्त्व दे सकें। ठीक है।

चित्त–शुद्धि की प्रस्तुत व्याख्या को पढ़कर मुझे ऐसा लगता है कि जिस विज्ञान का विशेषतः Psychopathology का आधार ही अस्तित्व–विहीन है, उसमें कोई Dependable तत्त्व मिल ही कैसे सकता है ?

आज चित्त के व्यक्त और अव्यक्त संघर्ष को सुलझाने का प्रयास करने वाले मानव जाति के हित—चिंतकों को यदि यह विदित हो जाय कि द्वन्द्व—जनित विकृति का आधार ही अस्तित्वविहीन है, तो उस समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग निकल जाय। तब Freud के इन शब्दों को दुहराना नहीं पड़ेगा कि "We can not supress the cry that life is not easy." इस क्रन्दन को दबा नहीं सकते कि जीवन आसान नहीं है।"

यह बात तो (Psychic Apparatus) के अस्तित्व को स्वीकार कर उठने वाले संकल्पों की पूर्ति—अपूर्ति को जीवन मानकर ही कही जाती है। वस्तु में जीवन—बुद्धि रखने के बाद संघर्ष, निराशा, क्षोभ और विकृति से परित्राण कैसे मिले ? नहीं मिल सकता। अशुद्धि—जनित पीड़ा से परित्राण तो वास्तविक जीवन से अभिन्न होने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत व्याख्या सामान्य—असामान्य चित्त वालों (Normal-Abnormal) को चेतन—अचेतन के संघर्ष की पीड़ा से बचाने का महामंत्र है।

अशुद्धि का मूल कारण है— देह, अवस्था, वस्तु एवं परिस्थिति में जीवन—बुद्धि, जो प्रमाद—जनित है। शुद्धि का मूल उपाय बताया गया है—

(१) आस्तिक—दृष्टि से विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेना।

(२) अध्यात्म—दृष्टि से विवेकपूर्ण अचाह होना।

(३) भौतिक—दृष्टि से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए विधिपूर्वक सम्पादित करना।

शुद्धि का परिणाम बताया गया है—चित्त की स्थिरता, शान्ति और स्वस्थता। शुद्धि से सर्व—हितकारी भावनाएँ उदित होती हैं, शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता आती है और चित्त की स्वस्थ दशा में न शान्ति भंग होती है और न अशुद्धि आती है। अतः चित्त को जिसमें

लगाना चाहिए उसमें लग जाता है और जिससे हटाना चाहिए उससे हट जाता है। प्रत्येक दशा में साधक की शान्ति, निर्भयता एवं प्रसन्नता सुरक्षित रहती है। साधक के साधन और जीवन में एकता हो जाती है। यही मानव जीवन की सार्थकता है, यही साधक की सिद्धि है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता मानवता के प्रेमी एक सन्त हैं, जिन्होंने जीवन की घटनाओं से चित्त की अशुद्धियों का अध्ययन किया है और अपने अनुभूत प्रयोगों के आधार पर चित्त–शुद्धि के साधनों का प्रतिपादन किया है। आपके विचारों ने अद्‌भुत क्रान्ति की है। आपकी पैनी दृष्टि जीवन की समस्याओं की गुह्यतम तह तक पहुँचती है। इसलिए आपके द्वारा प्रतिपादित साधन साधक की समस्याओं का मूलोच्छेद करने में समर्थ हैं। यदि आपने मानव–सेवा–संघ द्वारा प्रकाशित "सन्त समागम" "मानव की माँग", "जीवन दर्शन" आदि पुस्तकें पढ़ी होंगी, तो आप उनकी शैली से पहले से ही परिचित होंगे। "चित्त–शुद्धि" भी उन्हीं की पवित्र वाणी द्वारा अभिव्यक्त विचारों का संग्रह है। सत्य के साथ किसी व्यक्ति विशेष का नाम जोड़ना उनके सिद्धान्त से उचित नहीं है। इसी कारण उनके द्वारा रचित पुस्तकों में उनका नाम नहीं दिया जाता। साधक–समाज की उलझनों से व्यथित इन महामानव को स्वतः जो प्रकाश मिला है, वह आपके आगे "चित्त–शुद्धि के रूप में प्रस्तुत है। इसमें प्रतिपादित चित्त की अशुद्धि का मूल कारण, शुद्धि के मुख्य साधन और उनका परिणाम मुझे अत्यन्त उपयोगी और आशाजनक मालूम होते हैं। यह हम सबके लिये कल्याणकारी हों, इसी सद्‌भावना के साथ–

मानव–सेवा–संघ आश्रम
वृन्दावन
दिनांक ६.३.५८

विनीता–
देवकी

विषय–सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
१.	गुण–दोष–युक्त द्वन्द्व से मुक्ति	१३
२.	सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति	१६
३.	कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग	२७
४.	जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग	३४
५.	मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति	४०
६.	अपने संबंध में विकल्प–रहित निर्णय	४६
७.	स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ	५२
८.	निज–दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान	५८
९.	इन्द्रिय–ज्ञान का सदुपयोग एवं बुद्धि–ज्ञान का आदर	६४
१०.	आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति	७०
११.	सुख–भोग की आशा का त्याग	७८
१२.	मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय	८४
१३.	सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्त्व	९१
१४.	क्षमा–प्रार्थना एवं क्षमा–शीलता का महत्त्व	९७
१५.	अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति	१०३
१६.	व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ	१०९
१७.	रुचि–अरुचि के द्वन्द्व का अन्त	११५
१८.	अहं और वस्तु का विभाजन	१२१
१९.	आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त	१२७
२०.	प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन–निर्माण	१३३
२१.	प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में	१४०
२२.	अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति	१४७
२३.	अहम्–भाव की निवृत्ति एवं भय–प्रलोभन से मुक्ति	१५४
२४.	अनन्त का विधान–विवेक का आदर	१६१
२५.	वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति	१६८
२६.	कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति	१७५
२७.	संकल्प उत्पत्ति–पूर्ति से अतीत का जीवन	१८३
२८.	करने में सावधान और होने में प्रसन्न	१९१

१

गुण–दोष–युक्त द्वन्द्व से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय

गुण–दोष–युक्त अवस्था में आसक्त होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति में गुण का अभिमान और दोष की उत्पत्ति स्वतः होती है। यद्यपि गुण का अभिमान भी दोष ही है परन्तु उसका बाह्य रूप दोष नहीं प्रतीत होता, अपितु गुण ही भासता है। यह नियम है कि प्रतीति का मूल सीमित अहम्भाव है, जो स्वयं दोष है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है, तब गुण–दोष–युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो उसे अपराधी–भाव अथवा मिथ्या अभिमान में आबद्ध कर देता है। अपराधी–भाव–जनित दुःख को दबाने के लिये मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होती है और मिथ्या अभिमान दोष को जन्म देता है। दोष की उत्पत्ति प्राणी में अपराधी भाव दृढ़ कर देती है। अपराधी–भाव के दृढ़ होते ही प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। उसका परिणाम यह होता है कि उसके जीवन में उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने के लिये उत्कण्ठा तथा उत्साह नहीं रहता, जिसके न रहने से नीरसता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जो क्षोभ तथा क्रोध को उत्पन्न कर प्राणी को कर्त्तव्य से च्युत कर देती है।

यह नियम है कि आसक्ति उसी से होती है, जिससे किसी न किसी प्रकार की भिन्नता हो। जिससे स्वरूप की एकता होती है, उसकी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि भेद से आसक्ति उत्पन्न होती है, अभेद में नहीं। जब साधक के जीवन में और गुणों में एकता नहीं होती, तभी गुणों की आसक्ति तथा उनका अभिमान उत्पन्न होता है,

जो समस्त दोषों का मूल है। दोष—जनित सुख—भोग ही प्राणी में दोषों की आसक्ति उत्पन्न करता है। ऐसा कोई दोष है ही नहीं, जिससे प्राणी की वास्तविक एकता हो जाय। सभी दोष उत्पत्ति—विनाश—युक्त हैं। जो वस्तु उत्पत्ति—विनाश—युक्त होती है, उसकी स्वरूप से स्थिति नहीं होती। उत्पत्ति—विनाश का जो क्रम है, वही स्थिति जैसा प्रतीत होता है। इस दृष्टि से किसी भी दोष की स्थायी स्थिति सिद्ध नहीं है। इसी कारण ऐसा कोई दोषी है ही नहीं, जो सर्वदा दोषी हो और सभी के लिये दोषी हो। इतना ही नहीं, दोष में सत्ता सीमित गुण की होती है, दोष की नहीं। यदि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी निवृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। दोष—जनित सुख के प्रलोभन से भले ही दोष की पुनरावृत्ति हो, किन्तु दोष की निवृत्ति की लालसा किसी न किसी अंश में प्रत्येक दोषी में सदैव रहती है। परन्तु जब दोष—निवृत्ति की लालसा सर्वांश में जाग्रत हो जाती है, तब सभी दोष स्वतः निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि निर्दोषता आ जाती है।

इस दृष्टि से गुण—दोष—युक्त अवस्था वास्तविक नहीं है, प्रत्युत् गुण का सीमित रूप ही दोष है, अथवा यों कहो कि गुण के विपरीत जो कुछ है, वही दोष है। गुण का सीमित होना गुण का अभिमान और गुण के विपरीत होना दोष, इनका भास होना ही गुण—दोष—युक्त द्वन्द्व है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। ज्यों—ज्यों गुण का अभिमान गलता जाता है, त्यों—त्यों दोष भी मिटते जाते हैं। सर्वांश में गुणों का अभिमान गल जाने पर दोष स्वतः मिट जाते हैं। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा न उगता ही है और न वृद्धि ही पाता है, उसी प्रकार गुणों के अभिमान के बिना न किसी दोष की उत्पत्ति ही होती है और न वृद्धि ही। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान ही वास्तविक दोष है। इतना ही नहीं, गुण का अभिमान दोष—जनित सुख की आसक्ति का नाश नहीं होने देता और न दोष की उत्पत्ति की वेदना ही जाग्रत होने देता है। यह नियम है कि दोषों की उत्पत्ति की वेदना दोष—जनित सुख की आसक्ति को खाकर निर्दोषता प्रदान करने में समर्थ है।

गुण और जीवन की भिन्नता ने ही गुणों का मिथ्या अभिमान उत्पन्न किया और गुणों के अभिमान से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति हुई। यदि साधक गुण और जीवन का भेद मिटा दे, तो बड़ी सुगमतापूर्वक गुण–दोष–युक्त अवस्था का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त गुण स्वाभाविक हैं, और समस्त दोष उत्पत्ति–विनाश–युक्त, अर्थात् अस्वाभाविक हैं। स्वाभाविकता में अस्वाभाविकता की स्थापना यदि न की जाय, तो अस्वाभाविकता स्वतः मिट जाती है, और फिर जीवन तथा गुणों में भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक दोष उसी समय तक जीवित है, जब तक उससे सम्बन्ध स्वीकार किया हुआ है; अर्थात् भूतकाल की घटना को वर्त्तमान में स्वीकार करना ही दोष को जीवित रखना है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में विद्यमान है यदि उसका अनादर न किया जाय, तो किसी भी दोष की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। ज्ञान स्वाभाविक है और उसका आदर भी स्वाभाविक है। उस स्वाभाविकता में यदि अस्वाभाविकता की स्थापना न की जाय, तो दोष जैसी वस्तु सिद्ध ही नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक दोष की सिद्धि ज्ञान के अनादर में निहित है। ज्ञान का अनादर कब से हुआ है, उसका ज्ञान सम्भव नहीं है, पर उसका आदर वर्त्तमान में संभव है, जिसके करते ही ज्ञान का अनादर और उसका परिणाम–दोषों की उत्पत्ति, अर्थात् दोष और उसका कारण सदा के लिये मिट जाता है। अतः जाने हुए के अनादर ने ही गुण और जीवन में भिन्नता उत्पन्न कर दी है, जो सभी दोषों का मूल है।

समस्त दोषों में आसक्ति दोषजनित सुख के भोग में निहित है। यदि दोष जनित सुख का भोग न किया जाय, तो दोषों में अनासक्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है। अपने आप वही आती है जो वास्तव में है। उस निर्दोषता को जब साधक असावधानी के कारण सीमित अहम् में स्थापित कर लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही

दोषों की पुनरावृत्ति होने लगती है। दोष की आसक्ति भोग में, अर्थात् इन्द्रिय और विषय में सम्बन्ध जोड़ती है, और गुण की आसक्ति सीमित अहम्भाव की पूजा में आबद्ध करती है। अहम्भाव की पूजा साधक के जीवन में दम्भ उत्पन्न करती है, और इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध साधक को पराधीन बनाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। भोग्य वस्तुओं की कामना और व्यक्तित्व के आदर की दासता गुण—दोष—युक्त अवस्था की आसक्ति में ही निहित हैं। यद्यपि व्यक्तित्व का आदर अधिकार—लालसा के त्याग में तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा में निहित है और भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति प्राकृतिक न्याय से होती है, परन्तु साधक असावधानी से भोग्य वस्तुएँ और व्यक्तित्व का आदर बलपूर्वक दूसरों को भय तथा प्रलोभन देकर प्राप्त करना चाहता है, जो वास्तव में सम्भव नहीं है। बल के सदुपयोग से निर्बलों में निर्भयता और सबल तथा निर्बल के बीच एकता आती है। सबल और निर्बल के बीच भिन्नता और पारस्परिक भय बल के दुरुपयोग से ही होता है, जिसका कारण एकमात्र चित्त की अशुद्धि है।

जिस प्रकार प्रत्येक लहर में जल सागर का है, लहर का नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में बल उस अनन्त का है, व्यक्ति का नहीं। जब व्यक्ति अनन्त के बल को अपना बल मान लेता है, तब उसमें मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है, जो सबल और निर्बल के बीच भेद उत्पन्न कर देता है, जिससे अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सबल निर्बल और निर्बल सबल होता रहता है। यह नियम है कि जिस बल का भास किसी की निर्बलता पर निर्भर है, वह वास्तव में बल के वेष में निर्बलता ही है, बल नहीं, क्योंकि यदि बल होता तो दूसरों की निर्बलता को दूर करने के काम आता। जिससे दूसरों में निर्बलता की वृद्धि होती है, उसे बल मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक बल वही है जो सबल और निर्बल में एकता उत्पन्न कर दे। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मान लिया जाय,

अपनी भोग सामग्री नहीं। बल को निर्बल के समर्पित करते ही बल का अभिमान गल जाता है, जिनसे गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दशा में कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य प्राकृतिक विधान के अनुरूप सबमें विद्यमान है। विद्यमान ज्ञान तथा सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य—पालन में असमर्थता नहीं है। व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कर्त्तव्य से च्युत होना असावधानी है, वास्तविकता नहीं। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य—पालन से किसी का अनादर नहीं होता, प्रत्युत् उसका जीवन विधान बन जाता है। विधान और जीवन में जो एकता है, यही चित्त की शुद्धि है और विधान और जीवन में जो भेद है, वही चित्त की अशुद्धि है। कर्त्तव्य का विधान कर्त्ता में मौजूद है। पर वह बेचारा असावधानी के कारण उसका आदर नहीं करता और जो नहीं जानता है, उसको जानने के लिये और जो नहीं कर सकता है, उसे करने के लिये व्यर्थ ही चिन्तित रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जानकारी थी, वह आच्छादित लगती है, और जो सामर्थ्य थी उसका ह्रास होने लगता है। अतः जो नहीं जानते हैं उसके जानने के लिये और जो नहीं कर सकते हैं उसको करने के लिये कभी चिन्तित नहीं होना चाहिए; प्रत्युत् जो जानते हैं और जो कर सकते हैं उसे आलस्य तथा असावधानी से रहित होकर करने के लिये सतत उद्यत रहना चाहिए।

अब यदि कोई यह कहे कि जो नहीं जानते हैं उसको जानने की चिन्ता न करने से तो जानकारी में वृद्धि न होगी, तो कहना होगा कि जानकारी में वृद्धि जानकारी के आदर से होती है, उसकी चिन्ता करने से नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार ज्ञान और जीवन में एकता होने से आवश्यक ज्ञान और सामर्थ्य अपने आप स्वतः प्राप्त होती है, उसके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती। ज्ञान तथा अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य के लिये वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करते। प्राणी पर दायित्व

अप्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सम्पादन का नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सदुपयोग का है। कर्त्तव्य—पालन के लिये आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु स्वतः प्राप्त होती है। प्राणी उस प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मानकर व्यर्थ ही दीनता और अभिमान में आबद्ध हो जाता है।

प्राणी दीनता में आबद्ध होने पर अप्राप्त सामर्थ्य और ज्ञान के लिये चिन्ता करता है और अभिमान में आबद्ध होने से प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का दुरुपयोग करता है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन में दीनता तथा अभिमान का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि अभिमान तो तब किया जाय जब सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु अपनी हो और दीन तब बना जाय जब वह करना पड़े जो नहीं कर सकते और उस ज्ञान की अपेक्षा हो जो प्राप्त नहीं है। किसी भी विधान के अनुसार वह कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसके पालन की सामर्थ्य तथा ज्ञान कर्ता में न हो। जैसे—जिसके पास किसी प्रकार का संग्रह नहीं है, उस पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता और न कोई किसी प्रकार की आशा करता है। सामर्थ्य, योग्यता और वस्तुओं के संग्रह में ही कर्त्तव्य का प्रश्न है और संग्रह के अनुसार करने में कोई कठिनाई नहीं है। अतः कर्त्तव्य—पालन स्वाभाविक है, उसमें जो अस्वाभाविकता है, अथवा जो कठिनाई प्रतीत होती है, वह केवल कर्त्ता की अपनी ही असावधानी है, और कुछ नहीं।

गुण—दोष—युक्त अवस्था की आसक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ होने से स्वतः मिट जाती है। पर कर्त्तव्य—पालन तभी सम्भव होता है, जब व्यक्ति अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयास न करे; प्रत्युत् जो सत्य है उसको निर्भयतापूर्वक प्रकाशित करने में समर्थ हो और उस परिस्थिति के अनुसार जो कर्त्तव्य है, उसके पालन में दृढ़ हो। सत्य—प्रकाशन से किसी का अहित नहीं है और परिस्थिति के अनुसार साधन करने से अनादर आदर में स्वतः बदल जाता है। परन्तु प्राणी वर्तमान के दुःख से भयभीत होकर कर्त्तव्य—पालन में तत्पर नहीं होता और सत्य को छिपाकर मिथ्या आदर पाने के लिये

व्यर्थ ही चेष्टा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य कर्त्तव्य–पालन के लिये थी, उसका दुर्व्यय हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिसकी अवनति हुई है, उसकी उन्नति हो सकती है और जो अशुद्धि है वह शुद्धि में बदल सकती है। अकर्त्तव्य, कर्त्तव्य से मिट सकता है। वर्तमान में कितनी ही असमर्थता तथा भय क्यों न हो, परन्तु उस स्थिति में जो करना चाहिए उसके करने से आवश्यक सामर्थ्य तथा निर्भयता अपने आप आ जाती है। निर्भयता आने पर सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है। अतः प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय से गुण–दोष–युक्त अवस्था की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त में ही समस्त विकास निहित है।

२९.५.५६

२

सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति–

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

सुख को सुरक्षित रखने के प्रलोभन और दुःख के भय ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। यद्यपि सुख के आदि और अन्त में दुःख स्वाभाविक है, परन्तु प्राणी दुःख पर दृष्टि न रखकर सुख की दासता में अपने को आबद्ध कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख भी सुरक्षित नहीं रहता और दुःख से भी बच नहीं पाता, अर्थात् न तो सुख के भोग की ही सिद्धि होती है और न दुःख के भय से ही छुटकारा मिलता है, जिसके न मिलने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख क्या है ? उसमें इतनी प्रियता क्यों ? यदि इस पर विचार

किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख संकल्पपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संकल्प–निवृत्ति के वास्तविक महत्त्व को जानने से और संकल्प–अपूर्ति के दुःख को सहन न करने से संकल्प–पूर्ति के सुख में प्रियता मालूम होती है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति नवीन संकल्प की जननी है, परन्तु असावधानी के कारण प्राणी इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता और संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार कर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति में संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति का द्वन्द्व है। अतः किसी भी परिस्थिति से यह आशा करना कि संकल्प अपूर्ति का चित्र अर्थात् दुःख नहीं आएगा और संकल्प पूर्ति के सुख का स्वप्न सुरक्षित बना रहेगा, असम्भव में सम्भव बुद्धि स्वीकार करना है, जो अविवेक सिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति समान ही अर्थ रखती है, तो फिर अप्राप्त परिस्थिति का संकल्प करना निरर्थक ही सिद्ध होता है और परिस्थिति को ही जीवन मानना सुख–दुःख में आबद्ध होना ही है और कुछ नहीं, जो चित्त की अशुद्धि है।

सुख–दुःख अपने आप आने–जाने वाली वस्तु हैं। उनके सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। सुख–दुःख का सदुपयोग सुख–दुःख से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोड़ने में अथवा उससे अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, सुख–दुःख का सदुपयोग सुख–दुःख में समानता का दर्शन कराता है, जिससे सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सुख–दुःख के सदुपयोग के महत्त्व को भली भाँति जान लेने पर किसी अप्राप्त परिस्थिति की कामना नहीं रहती और प्राप्त परिस्थिति साधन–सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होती; अथवा यों कहो कि परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर संकल्प पूर्ति की दासता मिट जाती है और संकल्प–निवृत्ति का महत्त्व चित्त में अंकित हो जाता है। ज्यों–ज्यों संकल्प–निवृत्ति का महत्त्व सबल एवं स्थायी होता जाता है, त्यों–त्यों

संकल्प–अपूर्ति का दुःख और पूर्ति का सुख स्वतः मिट जाता है।

कामना–पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को सर्वांश में सत्य का अनुसरण नहीं करने देता, अर्थात् न तो असत्य को जानकर उससे विमुख ही होने देता है और न असत्य को प्रकट करने का साहस ही रहने देता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्य की तो चर्चा करता है और असत्य में रमण करता है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। कामना–पूर्ति की दासता प्राणी के मूल्य का अपहरण कर लेती है, जिसके होते ही साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन हो जाता है। वस्तु के अधीन होने से लोभ और व्यक्ति के अधीन होने से मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

सर्वांश में सत्य का अनुसरण किये बिना निज ज्ञान और जीवन में जो भिन्नता हो गई है, उसका नाश नहीं हो सकता और उसके बिना सत्य से अभिन्नता नहीं हो सकती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से कामना–पूर्ति के प्रलोभन को त्याग, सत्य का अनुसरण करना अनिवार्य है।

कामना–पूर्ति ने ही असत् से संबंध स्थापित कर दिया है। यद्यपि असत्य को जानना स्वाभाविक है, परन्तु उससे विमुखता दुर्लभ हो गई है, क्योंकि असत् से संबंध स्वीकार करने पर ही कामना की उत्पत्ति और पूर्ति होती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति का द्वन्द्व सत्य की जिज्ञासा जाग्रत नहीं होने देता। सत्य की जिज्ञासा के बिना असत्य के त्याग की सामर्थ्य नहीं आती। यह नियम है कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं, पर सत्य की जिज्ञासा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः सत्य की जिज्ञासा के बिना असत् से विमुखता सम्भव नहीं और कामना–पूर्ति के प्रलोभन का त्याग बिना किये सत्य की जिज्ञासा जाग्रत हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सत्य से अभिन्न होने के लिये कामनाओं का त्याग अनिवार्य है।

समस्त दोषों का मूल कामना–पूर्ति का प्रलोभन है। अपने जाने हुए दोष को बनाये रखने की रुचि में भी कामनापूर्ति का सुख ही

हेतु है। यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरों से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिये अपने दोष को छिपाता है। यद्यपि दोष छिपाया नहीं जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोष को छिपाने के लिये अनेक दोष करने लगता है। ज्यों—ज्यों दोष करता जाता है, त्यों—त्यों अनादर का भय स्वतः बढ़ता जाता है। ज्यों—ज्यों अनादर का भय बढ़ता जाता है, त्यों—त्यों असत् को असत् जानकर भी उसे प्रकाशित नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिससे एकता मिट जाती है, जिसके मिटते ही संघर्ष उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है।

यदि अपने दोष को स्पष्ट जान लिया जाय, उसे प्रकाशित कर दिया जाय तथा उसे न दुहराया जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अनादर तथा हानि का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त—शुद्ध होने लगता है। इतना ही नहीं, निर्दोषता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में आदर एवं प्यार पाने के योग्य हो जाता है। इस दृष्टि से अपनी भूल छिपाने के लिये असत्य का आश्रय लेना, अथवा यों कहो कि सत्य का प्रकाशन न करना सर्वथा त्याज्य है। सर्वांश में सत्य का अनुसरण और असत् से विमुखता एवं सत्य को प्रकट करने का साहस तभी सम्भव है, जब साधक कामना—पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जावे, क्योंकि उसके बिना सफलता सम्भव नहीं है।

वर्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय प्राप्त किये बिना कोई भी साधक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक प्राणी अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित है, तब तक सच्ची वेदना जाग्रत नहीं होती। उसके बिना संकल्प—पूर्ति के सुख का राग निवृत नहीं होता और रागनिवृत्ति के बिना दोषयुक्त प्रवृत्तियों से अरुचि नहीं होती।

किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर दोष–युक्त प्रवृत्ति में प्रवृत्त न होना कोई महत्त्व की बात नहीं है, क्योंकि दोष न करने मात्र से ही दोष–जनित सुख की रुचि नष्ट हो जाती और उसके नष्ट हुए बिना दोष का त्याग सम्भव नहीं है, क्योंकि दोषयुक्त प्रवृत्ति न होने पर भी उसका राग चित्त में अंकित रहता है, जो कभी भी ऊपर से स्थापित की हुई निर्दोषता का अन्त कर सकता है, अर्थात् भय में शिथिलता आ जाने से और सुख का प्रलोभन उत्पन्न होने पर कभी भी त्यागा हुआ दोष दुहराया जा सकता है। इस कारण दोष–जनित सुख से अरुचि जितनी सबल होती है, उतनी ही सबल दोष–जनित सुख के राग की निवृत्ति होती है, जो निर्दोषता प्रदान करने में समर्थ है। निर्दोषता के बिना असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता सम्भव नहीं है।

अपनी निर्बलता का यथेष्ठ और यथार्थ परिचय ही वस्तु–स्थिति का परिचय है। अपने किसी सीमित गुण का भास मात्र वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय नहीं है, क्योंकि गुण का भास तो मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है; उससे साधक में क्रान्ति नहीं आती, अपितु किसी–न–किसी अंश में शिथिलता ही आती है। अतः अपनी निर्बलताओं का ज्ञान ही वस्तुस्थिति का वास्तविक ज्ञान है। निर्बलता के ज्ञान में उसके मिटाने की लालसा निहित है; क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी प्राणी को अपने में निर्बलता बनाए रखना अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से जितना स्पष्ट अपनी निर्बलताओं का परिचय होता है, उतनी ही तीव्रता के साथ उन्हें मिटाने की लालसा जाग्रत होती है। यह नियम है कि निर्बलता मिटाने की लालसा निर्बलता–जनित सुख की इच्छाओं को खा लेती है, जिससे निर्बलताओं को पुनः न दुहराने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने में हेतु है।

निर्बलता–जनित वेदना को दबाने का प्रयास निर्बलताओं का आह्वान करना है। अपना गुण और पराये दोष देखने मात्र से ही निर्बलता–जनित वेदना में शिथिलता आ जाती है, जिससे बेचारा

प्राणी निर्बलताओं में आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त—शुद्धि के लिये दोष—जनित दुःख का तीव्र होना आवश्यक है, क्योंकि दुःख से ही सुख का राग मिट सकता है। पर किसी भी स्थिति में साधक को निर्दोषता से निराश नहीं होना है; क्योंकि निर्दोषता से प्राणी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसकी प्राप्ति सम्भव है और जिन दोषों से प्रमादवश एकता स्वीकार कर ली है, उनकी निवृत्ति हो सकती है। दोषों से उत्पन्न हुई परिस्थिति के परिवर्तन में भले ही काल अपेक्षित हो, परन्तु दोष—रहित होने के लिए तो दोष को न दुहराने का दृढ़ व्रत ही पर्याप्त है, जो वर्तमान में हो सकता है। प्राणी निर्दोष कहलाने में भले ही परतन्त्र हो, पर निर्दोष होने में सर्वदा स्वतन्त्र है।

यह प्राकृतिक नियम है कि निर्दोष होने पर निर्दोषता का प्रादुर्भाव उसके बाह्य जीवन में स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं, कालान्तर में उसका जीवन विधान बन जाता है। निर्दोष कहलाने की कामना तो एक दोष ही है। उससे तो सदैव सजग रहना चाहिए, क्योंकि निर्दोष कहलाने की रुचि सीमित अहम्भाव को पुष्ट करती है, जो समस्त दोषों का मूल है। इस दृष्टि से दोष से भी कहीं अधिक दोष है अपने को निर्दोष कहलाने की कामना में आबद्ध रखना। इतना ही नहीं, निर्दोष कहलाने की कामना तभी तक जीवित रहती है, जब तक साधक सर्वांश में निर्दोष नहीं हो जाता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सर्वांश में निर्दोषता सम्भव है ? तो कहना होगा कि आंशिक निर्दोषता तो प्रत्येक दोषी में रहती है, क्योंकि सर्वांश में कोई दोषी हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो सभी का सर्वदा बुरा चाहे। बुरे—से—बुरे व्यक्ति में भी किसी—न—किसी अंश में किसी—न—किसी के प्रति भलाई की भावना अवश्य रहती है। यह नियम है कि भावना के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वांश में सभी के

लिये कोई दोषी नहीं होता, किन्तु निर्दोषता सर्वांश में ही होती है। यदि सर्वांश में कोई दोषी होता, तो उसे अपने दोष का ज्ञान ही नहीं होता। दोष का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि जीवन में किसी–न–किसी अंश में निर्दोषता है।

संकल्प–पूर्ति के सुख का प्रलोभन और अपूर्ति के दुःख का भय चित्त को अशुद्ध करता है। यदि संकल्प की उत्पत्ति ही न हो, तो चित्त के अशुद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। इस दृष्टि से संकल्प–उत्पत्ति ही चित्त की अशुद्धि का मूल कारण है। अब विचार यह करना है कि संकल्प का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति ही क्यों होती है ? प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति का कारण एकमात्र अपने में देह–भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक–सिद्ध है। अविवेक विवेक के आदर–मात्र से ही मिट सकता है। देह आदि वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही संकल्प का स्वरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही हैं, उनके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाए ? तो कहना होगा कि क्या कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमें सतत परिवर्तन न हो रहा हो? अथवा जिसका अदर्शन न हो अथवा जिसका वियोग न हो ? इन्द्रिय–ज्ञान से जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती हैं, उन्हीं में बुद्धिज्ञान से सतत परिवर्तन भासित होता है, अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी नहीं है जो उत्पत्ति–विनाश–युक्त न हो। इतना ही नहीं, उत्पत्ति–विनाश के क्रम में ही स्थिति भासमात्र है, वास्तविक नहीं। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं है, जो केवल प्रतीति–मात्र है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने–मात्र से बेचारा साधक संकल्पकी उत्पत्ति और पूर्ति में आबद्ध हो गया है और जो सभी वस्तुओं से अतीत वास्तविक जीवन है, उससे विमुख हो गया है। यद्यपि जो वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं, उनकी प्राप्ति कभी सम्भव नहीं है और जो वास्तविक जीवन प्रतीत नहीं हो रहा है, उसकी ही प्राप्ति

सम्भव है, परन्तु बेचारा साधक इस रहस्य को बिना ही जाने प्रतीति–मात्र को प्राप्ति और जिसकी प्रतीति नहीं है, प्रत्युत् प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति मान लेता है। यह मान्यता वास्तविकता से वंचित करती है। प्रतीति प्राप्ति का चिह्न नहीं है, अपितु किसी–न–किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध करती है, अथवा यों कहो कि प्रतीति में अल्प–ज्ञान का प्रभाव है, जिससे अप्राप्त भी प्राप्त के समान भासित होता है। यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब प्रतीति में प्राप्त–बुद्धि स्वीकार कर ली जाय। इस स्वीकृति से ही चित्त अशुद्ध होता है। जिसकी प्रतीति इन्द्रिय और बुद्धि–ज्ञान से संभव नहीं है, प्रत्युत् जिसके प्रकाश से इन्द्रिय तथा बुद्धि प्रकाशित हैं, उसकी अप्राप्ति तथा उससे भेद एवं दूरी स्वीकार करना उसी प्रकार की भूल है, जिस प्रकार प्रतीति को प्राप्ति स्वीकार करना है।

यदि साधक प्रतीति से विमुख होकर श्रमरहित हो जाय, तो जो नित्य–प्राप्त है उसमें प्रीति, उससे नित्ययोग एवं उसका बोध स्वतः हो सकता है, जिसके होते ही चित्त सदा के लिये शुद्ध हो जाता है। योग, बोध और प्रेम प्राप्त में और भोग, मोह और आसक्ति अप्राप्त में प्रवृत्त कराते हैं। अप्राप्त की प्रवृत्ति श्रम है, और कुछ नहीं, जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है, जो प्राणी को शक्ति हीनता, जड़ता और पराधीनता में आबद्ध करता है और जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस काल में जड़ता, पराधीनता और शक्तिहीनता की वेदना जाग्रत होती है, उसी काल में प्रतीति से विमुखता उदय होती है, जिसके होते ही प्राप्त से योग और उसका बोध एवं उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख के प्रलोभन तथा भय से रहित होने में ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त की शुद्धि में ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

३०.५.५६

३

कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक साधक में कर्त्तव्य का ज्ञान तथा उसके पालन की सामर्थ्य विद्यमान है, क्योंकि वर्तमान जीवन साधननिष्ठ होने के लिये ही मिला है, परन्तु असावधानी के कारण अकर्त्तव्य जानकर उसका त्याग न करना और कर्त्तव्य को कर्त्तव्य जानकर कर्त्तव्यनिष्ठ न होना चित्त को अशुद्ध करना है। कर्त्तव्य–पालन में ही चित्त की शुद्धि निहित है और अकर्त्तव्य के त्याग से ही कर्त्तव्य–पालन की सामर्थ्य उदित होती है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि के लिये सर्वप्रथम अकर्त्तव्य का त्याग अनिवार्य है। साधन के दो अंग हैं–एक वह जो निषेधात्मक है, अर्थात् न करने वाला और दूसरी विधि विध्यात्मक है, अर्थात् करने वाली बात। निषेधात्मक साधन को अपना लेने में साधक असमर्थ नहीं है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधना के सिद्ध होने पर विध्यात्मक साधना स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

निषेधात्मक साधना की सिद्धि वर्तमान में ही हो सकती है, क्योंकि उसके लिये किसी परिस्थिति–विशेष की अपेक्षा नहीं है, और न वह श्रम–साध्य है। उसकी सिद्धि के लिये साधक का केवल दृढ़व्रती होना है; अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य–जनित सुख–लोलुपता का त्याग करना है। यह नियम है कि सुख की आशा के त्याग से स्वार्थ–भाव स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त दिव्य गुण अपने आप उदित होते हैं, जो विध्यात्मक साधना को सिद्ध करने में

समर्थ हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

कर्त्तव्य–पालन वर्तमान की वस्तु है। उसका संबंध प्राप्त परिस्थिति से है। उसके लिये आगे–पीछे का चिन्तन अपेक्षित नहीं है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति की ही आवश्यकता है, अपितु प्राप्त परिस्थिति के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति का कर्त्तव्य निहित है और उसी के पालन में उद्देश्य की पूर्ति है। कर्त्तव्य की सार्थकता दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में है। इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी से किसी का अहित नहीं होता और न उसमें पराधीनता रहती है। जिस प्रवृत्ति से किसी का अहित हो और कर्त्ता में पराधीनता का जन्म हो, वह प्रवृत्ति अकर्त्तव्य है, कर्त्तव्य नहीं।

कर्त्तव्य का मूल मन्त्र है–बल का सदुपयोग और विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से दूसरे के अधिकार की रक्षा होती है और विवेक के आदर से अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य आती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से परस्पर में एकता होती है और संघर्ष का नाश हो जाता है। जितनी भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं उनके मूल में बल का दुरुपयोग, अर्थात् दूसरों के अधिकारों का अपहरण है। यह नियम है कि भिन्नता में ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी बल का दुरुपयोग नहीं करते। बल के सदुपयोग की सामर्थ्य विवेक के आदर में निहित है, क्योंकि विवेक का आदर किये बिना बल का सदुपयोग सम्भव नहीं है। विवेक में ही कर्त्तव्य का ज्ञान और अकर्त्तव्य के त्याग की सामर्थ्य निहित है, क्योंकि विवेक के प्रकाश में ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, विवेक का आदर करने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक काम–रहित हो जाता है; क्योंकि विवेक सत् और असत् का विभाजन करने में समर्थ है। काम का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई साधक अपने को बल और विवेक से रहित मानता हो

तो वह भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निर्बल में निर्भर होने की शक्ति आ जाती है और जो कुछ नहीं जानता उसमें विकल्प रहित विश्वास उदित होता है। निर्भरता साधक को अभिमान रहित कर देती है, जिसके होते ही भिन्नता तथा भेद गल जाता है और निर्भयता आ जाती है। भिन्नता गलते ही प्रेम का उदय होता है और भेद के मिटते ही यथार्थ का बोध हो जाता है। प्रेम में अगाध अनन्त रस तथा बोध में जीवन निहित है। इस दृष्टि से निर्बल साधक भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। बल के सदुपयोग से भी परस्पर में एकता आती है और निर्भर होने से भी भेद तथा भिन्नता का नाश हो जाता है। अतः निर्बल और सबल दोनों ही कर्त्तव्यनिष्ठ होकर एक ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं और दोनों ही का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि तो एकमात्र बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर में निहित है, जो वास्तव में अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से भिन्न कोई तीसरी स्थिति हो नहीं सकती। हाँ, यह अवश्य है कि आंशिक कर्त्तव्य और आंशिक अकर्त्तव्य अपना लेने के कारण कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाय। कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का द्वन्द्व अकर्त्तव्य से भी कहीं अधिक निन्दनीय है; क्योंकि केवल अकर्त्तव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर द्वन्द्वातीत जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसमें किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। अतः जीवन में जो विषमता तथा अभाव का दर्शन होता है, उसका कारण एकमात्र कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का द्वन्द्व है। आंशिक कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य का ही एक रूप है, क्योंकि आंशिक कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य का ही एक ही रूप है, क्योंकि आंशिक कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य का आश्रय रहता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य चित्त को अशुद्ध ही करता है, क्योंकि अकर्त्तव्य के रहते हुए वास्तविक कर्त्तव्य–परायणता सम्भव नहीं है और उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अतः अकर्त्तव्य को त्याग कर ही, कर्त्तव्य–परायणता से चित्त शुद्ध हो सकता है।

यद्यपि किसी–न–किसी अंश में बल तथा विवेक प्रत्येक साधक में विद्यमान है, परन्तु यदि कोई अपने को विवेक–रहित मानता है, तो वह भी विकल्प–रहित विश्वास के आधार पर कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। विकल्प–रहित विश्वास किसी वस्तु आदि पर नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके संबंध में अधूरी जानकारी होती है उसके संबंध में सन्देह होता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर होता है जिसके संबंध में कुछ नहीं जानते। जिसके संबंध में कुछ नहीं जानते वह सभी वस्तुओं से अतीत हो सकता है, क्योंकि वस्तुओं के संबंध में तो कुछ–न–कुछ जानते ही हैं।

जो वस्तुओं से अतीत है उस पर विकल्प–रहित विश्वास होने से भी साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योंकि विश्वास में संबंध जोड़ने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। जिस पर विश्वास होता है उससे ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियता को जाग्रत करती है। प्रियता आत्मीयता और आत्मीयता अभिन्नता प्रदान करती है। अभिन्नता भेद को खाकर अभय करने में समर्थ है। भय का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। विकल्प–रहित विश्वास के द्वारा साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक वस्तुओं से अतीत, जो है, उससे नित्य संबंध स्वीकार कर उसके प्रेम को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से जो साधक यह मानता है कि मैं कुछ नहीं जानता, वह भी विकल्प–रहित विश्वास के आधार पर साधननिष्ठ, अर्थात् कर्त्तव्य–परायण हो सकता है।

समस्त साधक दो श्रेणियों में ही विभाजित हो सकते हैं। एक तो वे, जो यह मानते हैं कि हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते और दूसरे वे, जो मानते हैं और जानते नहीं। जो साधक अधूरी जानकारी को स्वीकार करते हैं, वे जिज्ञासु होकर कर्तव्यनिष्ठ हो जाते हैं, क्योंकि अधूरी जानकारी में ही सन्देह की उत्पत्ति होती है और सन्देह की भूमि में ही जिज्ञासा उदित होती है, जो जिज्ञासु को वास्तविकता से अभिन्न कर देती है। जो साधक केवल मानते हैं, जानते कुछ नहीं, वे अपनी मान्यता के अनुरूप जिसे मानते हैं उस

पर विश्वास कर उससे नित्य–सम्बन्ध स्वीकार कर उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाते हैं। जिज्ञासु, जिज्ञासा होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है और विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ जिज्ञासा की अग्नि में भस्मीभूत हो जाती हैं, जिनके होते ही जिज्ञासु, जिज्ञासा और वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहता, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। विश्वासी, विश्वास और विश्वासपात्र, इन तीनों में भी एकता हो जाती है, क्योंकि विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है; कारण कि प्रीति भेद तथा दूरी को रहने नहीं देती। साधन का आरम्भ चाहे सन्देह से हो अथवा विश्वास से, साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो ही जाता है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक कर्त्ता कर्त्तव्य होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। कर्त्ता का अस्तित्व कर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं रहता।

समस्त कर्त्तव्य दो भागों में विभाजित हैं–एक तो कर्त्तव्य का वह भाग, जो कर्त्ता के दोषों का अन्त कर उसे निर्दोषता प्रदान करता है और दूसरा कर्त्तव्य का वह भाग, जो कर्त्ता को प्रेम प्रदान कर प्रेमास्पद से अभिन्न करता है। निर्दोषता और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम में निर्दोषता और निर्दोषता में प्रेम ओत–प्रोत है, अर्थात् प्रेम और निर्दोषता में विभाजन नहीं हो सकता। निर्दोषता किसी और में हो और प्रेम किसी और में, यह सर्वदा असम्भव है। जिसमें वास्तविक निर्दोषता है, उसी में अविचल प्रेम है। इतना ही नहीं, निर्दोषता और प्रेम इन दोनों में स्वरूप की एकता है–निर्दोषता जीवन है, तो प्रेम रस। रस विहीन जीवन और जीवन रहित रस किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः प्रेम और निर्दोषता यह दोनों किसी एक की ही विभूतियाँ हैं, जो सभी का सब कुछ है।

निर्दोषता और प्रेम योग की भूमि में ही निहित हैं। योग कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी को स्वतः प्राप्त होता है, कारण कि कर्त्तव्य–पालन कर्त्ता को राग–रहित कर देता है। राग–रहित होते ही भोग योग में स्वतः

बदल जाता है, जो जीवन तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है।

योग साधन का वह स्तर है, जिसमें किसी प्रकार का श्रम तथा अस्वाभाविकता नहीं है, अथवा यों कहो कि विश्राम तथा स्वाभाविकता से युक्त है। विश्राम तथा स्वाभाविकता में कर्त्तृत्व के अभिमान की गंध भी नहीं रहती। यह नियम है कि कर्त्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सीमित अहम्भाव शेष नहीं रहता; ऐसा होने पर निरभिमानता, अभेद और अभिन्नता स्वतः आ जाती है, जिनमें योग, बोध तथा प्रेम स्वतः सिद्ध है।

सन्देह रहते हुए जिज्ञासा की जागृति का न होना और विश्वास होने पर विश्वासपात्र से विश्वासी के नित्य–संबंध की स्वीकृति का दृढ़ न होना ही असाधन अथवा अकर्त्तव्य है। असाधन और अकर्त्तव्य के त्याग में ही साधन में निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि असाधन और अकर्त्तव्य के त्यागमात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। साधन साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्य भाव–रूप है अैर अकर्त्तव्य अभावरूप है। जो भावरूप है वह अविनाशी है और जो अभावरूप है, उसका नाश होता है। इसी कारण कर्त्तव्य की प्राप्ति और अकर्त्तव्य की निवृत्ति होती है। कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य–युक्त जो द्वन्द्वात्मक स्थिति प्रतीत होती है, वही साधक को कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के अभिमान में आबद्ध करती है, जिसके होते ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अंधकार की प्रतीति प्रकाश से सिद्ध है–कारण कि प्रकाश के अभाव में किसी ने अन्धकार को देखा नहीं–उसी प्रकार आंशिक कर्त्तव्य में ही अकर्त्तव्य की स्थिति प्रतीत होती है। यदि साधक सर्वांश में कर्त्तव्य को अपना ले, तो अकर्त्तव्य सदा के लिये स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का द्वन्द्व नहीं रहता और चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य–काल में अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य–काल में कर्त्तव्य प्रतीत नहीं होता, अर्थात् एक काल में

एक ही का भास होता है, परन्तु कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य की स्मृति चित्त में अंकित हो जाती है, जिससे व्यक्ति कभी तो भूतकालिक घटनाओं के आधार पर अपनी महिमा गाता है और कभी निन्दा करता है। तदनुसार अपने को दोषी और निर्दोष, ऊँचा और नीचा, भला और बुरा मानकर सुखी–दुःखी होता है।

परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ–न–कुछ अर्थ रखती है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अर्थ को अपना कर घटनाओं को भूल जाता है और घटनाओं से प्राप्त प्रकाश से वर्त्तमान में अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के लिये अथक प्रयत्नशील रहता है। घटनाओं का चिन्तन कर्त्तव्यनिष्ठ होने में विघ्न है और उनका वास्तविक अर्थ अपना लेना कर्त्तव्य–पालन में सहायक है।

कर्त्तव्यपरायणता वर्त्तमान की वस्तु हैं, जिसके अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होते ही चित्त में अंकित स्मृति स्वप्नवत् निर्जीव हो जाती है, अथवा मिट जाती है, जिसके मिटने पर गुण–दोष का अभिमान गल जाता है और उसके गलते ही निर्दोषता तथा प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। अतः प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

३१.५.५६

४

जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जानने की सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरों पर करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण कि जानने की सामर्थ्य से ही दोष का दर्शन होता है। यदि उसका उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर किया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है, और पर–दोष अपने को दोषी बनाने में हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक दोष उत्पत्ति–विनाशयुक्त है। जो वस्तु उत्पत्ति विनाश–युक्त है, उसकी वास्तविक स्थिति सिद्ध नहीं होती, अपितु उत्पत्ति–विनाश का जो क्रम है, उसी में स्थिति भासित होती है। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नहीं होती उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं।

दोष की उत्पत्ति से पूर्व और दोष न दुहराने पर निर्दोषता स्वतः सिद्ध है। दोष की सत्ता तो केवल दोष के उत्पत्ति–काल में ही है। समस्त दोषों की भूमि गुण का अभिमान है। पर–दोषदर्शन से उसमें नित–नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है इस दृष्टि से दोष दर्शन की सामर्थ्य का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर किया जाय। सामर्थ्य स्वयं न गुण होती है और न दोष। उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है

साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध होता है। अतः जानने की सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत जीवन पर ही करना हितकर सिद्ध होता है।

प्रकाश अन्धकार का नाशक है और वस्तुस्थिति का प्रकाशक है, अर्थात् प्रकाश में जो वस्तुएँ जैसी हैं, वे वैसी ही दिखाई देती हैं, पर जिस अन्धकार ने उन वस्तुओं को आच्छादित कर रखा था, वह अन्धकार प्रकाश होने–मात्र से मिट जाता है। उसी प्रकार जानने की सामर्थ्य से व्यक्तिगत जीवन की वस्तुस्थिति का ठीक परिचय हो जाता है और जिस अज्ञान ने वस्तुस्थिति को ढक दिया था वह मिट जाता है।

वस्तुस्थिति के परिचय में क्रान्ति स्वतःसिद्ध है, क्योंकि जाना हुआ दोष असह्य हो जाता है। यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है वह प्राप्त हो जाता है। अतः वस्तुस्थिति के ज्ञान में दोष की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। पर वह तभी सम्भव होगा जब जानने की सामर्थ्य का उपयोग दूसरों पर न करने का स्वभाव बना लिया जाय।

जानने की सामर्थ्य किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत वस्तु नहीं है और न उत्पत्ति–विनाश युक्त है, अपितु उसकी देन है, जिसमें अनन्त ज्ञान है। उस अनन्त ज्ञान से जो ज्ञान मिला है उसी में साधन–निर्माण की सामर्थ्य निहित है। पर उसकी अनुभूति तभी होती है जब प्राप्तज्ञान का अध्ययन किया जाय। जानने की सामर्थ्य का अध्ययन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है; क्योंकि उस ज्ञान में ही अपने दोष का ज्ञान, उस दोष को मिटाने का उपाय तथा निर्दोषता का भी ज्ञान है। जानने की सामर्थ्य से ही प्राणी अपनी वस्तुस्थिति को जानता है। और उसी से अपने लक्ष्य को ही जानता है। लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये जिस साधन–प्रणाली की अपेक्षा है उसका ज्ञान भी जानने की सामर्थ्य में निहित है। इस दृष्टि से जानने का दोष किसी भी साधक के जीवन में स्वभाव से नहीं है।

जाने हुए के अनादर से ही जानने का दोष साधक को अपने में भासित होने लगता है। यदि जानने की सामर्थ्य का यथेष्ट आदर किया जाय, तो न जानने का दोष प्रतीत न होगा। समस्त साधनों का निर्माण जानने की सामर्थ्य में ही निहित है। जानने की सामर्थ्य का प्रकाशन इन्द्रिय द्वारा भी होता है तथा बुद्धि के द्वारा भी और इन दोनों से रहित भी जानने की सामर्थ्य अपने को प्रकाशित करती है।

इन्द्रियों के स्तर पर जानने की सामर्थ्य विषयों को, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को प्रकाशित करती है। विषयों की प्रतीति में सत्यता, अर्थात् अपरिवर्तन स्वीकार करना इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है। परन्तु उन्हीं विषयों को यदि बुद्धि के स्तर से जानने का प्रयास किया जाय, तो किसी भी भोग्य—वस्तु में अपरिवर्तन का दर्शन न होगा, अपितु सतत परिवर्तन की अनुभूति होगी। जब साधक बुद्धि के स्तर से प्रकाशित जानने की सामर्थ्य का आदर करने लगता है, तब विषयों से अरुचि स्वतः जाग्रत होती है, अथवा यों कहो कि भोग्य वस्तुओं पर सन्देह होने लगता है। उसी सन्देह की भूमि में जिज्ञासा जाग्रत होती है। इन्द्रियों के स्तर से प्रकाशित जानने की सामर्थ्य ने जिन कामनाओं को, अर्थात् विषयासक्ति को जन्म दिया था, जिज्ञासा की जागृति उन कामनाओं का नाश करती है और विषयासक्ति विरक्ति में बदल जाती है, जिसके बदलते ही साधक राग—रहित हो जाता है। राग—रहित होते ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है और फिर बुद्धि के स्तर से अतीत जानने की सामर्थ्य में प्रवेश हो जाता है, जो निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है।

सन्देह में जो निस्सन्देहता की मान्यता है, इसी ने चित्त को अशुद्ध किया है और चित्त की अशुद्धि से ही सन्देह सहन होता रहता है, अर्थात् सन्देह की वेदना जाग्रत नहीं होती। सन्देह की वेदना का जाग्रत न होना चित्त की अशुद्धि को दृढ़ करना है। चित्त की शुद्धि के लिये यह अनिवार्य है कि सन्देह में जो निस्सन्देहता की

स्थापना कर ली गई है उसका अभाव करना होगा, तभी सन्देह की वेदना का उदय होगा, अर्थात् इन्द्रियज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, यह स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति ही सन्देह में जो निस्सन्देहता की स्थापना है, उसका अभाव कर देगी।

इन्द्रियों के स्तर में जानने की सामर्थ्य विधान नहीं है, अपितु शक्ति है। यह नियम है कि शक्ति में स्वभाव से ही जड़ता होती हैं। जिसमें जड़ता होती है उसका उपयोग किसी विधान के अधीन होना चाहिए, तभी उसका सदुपयोग हो सकता है। विधान–शून्य शक्ति का उपयोग ह्रास का मूल है और उसी से चित्त अशुद्ध होता हैं। इन्द्रियों के स्तर की जानने की सामर्थ्य भोग की प्रवृति में भले ही समर्थ हो, परन्तु भोग–सामग्री की वास्तविकता के जानने में सर्वथा असमर्थ है। सीमित सामर्थ्य को सर्वदा असमर्थता ही मानना चाहिए, सामर्थ्य का अभाव नहीं। अतः इन्द्रियों के स्तर की जानने की सामर्थ्य को जानने का अभाव न मानकर अल्पज्ञान मानना चाहिए। अधूरी जानकारी जिज्ञासा जागृति में साधनरूप है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्तर का ज्ञान आदरणीय है, परन्तु प्रत्येक स्तर का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है। वास्तविक ज्ञान तो सभी स्तरों के ज्ञान से अतीत है।

प्रत्येक स्तर के ज्ञान का साधन–बुद्धि से उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग निर्बलों की सेवा में और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग राग–रहित होने में, अथवा वस्तुओं की सत्यता और सुन्दरता के अपहरण में निहित है। ज्यों–ज्यों इन्द्रिय–ज्ञान का सदुपयोग होने लगता है, त्यों–त्यों चित्त पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव स्थायी होने लगता है, जिसके होते ही भोग की रुचि योग की लालसा में बदल जाती है। जिस काल में योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त कर देती है, उसी काल में योग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि के स्तर से अतीत जानने की जो सामर्थ्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है।

बुद्धि के स्तर से अतीत जो ज्ञान है, उसमें कर्त्तव्य–विज्ञान,

योग–विज्ञान, अध्यात्म–विज्ञान आदि सभी विद्यमान हैं। कर्त्तव्य–विज्ञान को अपना लेने पर साधक के चित्त से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और उसका बाह्य परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, क्योंकि कर्त्तव्य–विज्ञान दूसरों के अधिकार की रक्षा की प्रेरणा देता है और उसमें प्रवृत्त करता है। कर्त्तव्य–विज्ञान के अनुरूप जब साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, तब वह स्वतः योग–विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। योग–विज्ञान नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता, जिसके न होने से चित्त चिर–शान्ति में निवास करने लगता है, जिससे जड़ता पराधीनता और शक्तिहीनता अपने आप मिटने लगती है, अथवा यों कहो कि चिन्मयता और स्वाधीनता से अभिन्न होने की सामर्थ्य आ जाती है।

योग–विज्ञान की परावधि में अध्यात्म–विज्ञान का उदय होता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भेद का अन्त होने पर सीमित अहम्–भाव गल जाता है, जिसके गलते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अनन्त के प्रेम की प्राप्ति होती है।

जानने की सामर्थ्य, जो अनन्त की देन है, उसका सदुपयोग अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर ही करना उचित है, क्योंकि अपने कर्त्तव्य को जानना है और दूसरों के अधिकार को भी। किसी के कर्त्तव्य में ही किसी का अधिकार निहित है, कारण कि ऐसा कोई कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता जिससे किसी के अधिकार की रक्षा न हो, अथवा यों कहो कि दूसरों के अधिकार के ज्ञान में ही अपना कर्त्तव्य निहित है। कर्त्तव्य–पालन पराधीनता का अन्त करता है और परस्पर में एकता की स्थापना करता है, परन्तु जब व्यक्ति जानने की सामर्थ्य का उपयोग अपने अधिकार और दूसरों के कर्त्तव्य में करने लगता है, तब बेचारा पराधीन हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रसन्नता दूसरों की उदारता पर ही निर्भर हो जाती है। यदि अधिकार की पूर्ति हो गयी, तो राग में आबद्ध हो जाता है और पूर्ति न हुई तो क्षुभित तथा क्रोधित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः जानने की सामर्थ्य का उपयोग दूसरों के अधिकार और अपने

कर्त्तव्य को जानने में करना चाहिए।

अकर्त्तव्य का नाश कर्त्तव्य के जानने में है और कर्त्तव्य का ज्ञान दूसरों के अधिकार की पूर्ति में है। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्यपरायणता और दूसरों के अधिकार की पूर्ति में वस्तु आदि से संबंध—विच्छेद हो जाता है। वस्तु आदि के सम्बंध—विच्छेद में चिरशांति, नित्य—योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम निहित है। वस्तु, व्यक्ति आदि के संबंध से ही चित्त अशुद्ध हो गया है और वस्तु, व्यक्ति आदि का संबंध कर्त्तव्य से च्युत होने पर ही दृढ़ होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य—परायणता वस्तुओं से संबंध—विच्छेद कराने में समर्थ है। अपने व्यक्तिगत जीवन पर जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग करने में ही कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है।

वस्तुस्थिति का परिचय होने पर साधक को अपने में अभाव का ज्ञान होता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है, परिवर्तनशील है और पर—प्रकाश्य है। अभाव का ज्ञान अभाव का अभाव कराने की प्रेरणा देता है, अथवा यों कहो कि अभाव के ज्ञान में लक्ष्य का ज्ञान निहित है। अभाव के ज्ञान से प्राप्त परिस्थिति से असंगता की रुचि उदित होती है और परिस्थिति से असंग होने पर अभाव का अभाव हो जाता है। पर कब ? जब किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान न हो। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान परिस्थिति के स्वरूप को न जानने से होता है। जब इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव चित्त में अंकित नहीं रहता, तब परिस्थिति के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक बुद्धि के स्तर पर जानने की जो सामर्थ्य है, उसका आदर न किया जाय, अथवा उसका सदुपयोग न हो। बुद्धि के ज्ञान का सदुपयोग विधान है। उसके अनुरूप इन्द्रियों का व्यापार होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग अपने कर्त्तव्य तथा लक्ष्य के ज्ञान में है और कर्त्तव्य—परायणता में लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। कर्त्तव्य—परायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से वर्तमान के सदुपयोग मात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

१.६.५६

५

मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

प्रत्येक व्यक्ति अपने संबंध में कुछ–न–कुछ मानता है और मान्यता के अनुरूप ही कुछ–न–कुछ करता है एवं करने के अनुसार ही परिस्थिति उत्पन्न होती है। परिस्थिति में जीवन–बुद्धि हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोग में प्राणी का हित है, परन्तु उसे जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है।

वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में अहम्–बुद्धि, मान्यता में जीवन–बुद्धि उत्पन्न करती है। यद्यपि समस्त मान्यताओं के मूल में जो है उसे किसी मान्यता में आबद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी मान्यताएँ उसी से सत्ता पाती हैं और उसी से प्रकाशित होती हैं। जिससे सभी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं, अथवा सत्ता पाती हैं उसकी जिज्ञासा तथा लालसामात्र से चित्त शुद्ध होने लगता है, क्योंकि जो सभी मान्यताओं का प्रकाशक है वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त है। अनन्त की जिज्ञासा तथा लालसा कामनाओं का अन्त कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त मान्यताएँ चार भागों में विभाजित हैं–भोगी, योगी, जिज्ञासु और प्रेमी। भोगी वही प्राणी है जो कामना–पूर्ति में ही जीवन मानता है। कामना–पूर्ति प्राणी को वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध कर देती है, जिसके होते ही लोभ–मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। भोग, भोग की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हो, किन्तु चित्त की अशुद्धि की दृष्टि से तो

सभी भोगों का समान अर्थ है, अर्थात् ऐसा कोई भोग है ही नहीं जिससे चित्त अशुद्ध न हो। इतना ही नहीं, भोग–प्रवृत्ति की तो कौन कहे, उसकी रुचिमात्र से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः भोग की रुचि का नाश हुए बिना चित्त किसी भी तरह शुद्ध नहीं हो सकता।

जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर है वही भोगी है, अथवा यों कहो जो देह–जनित व्यापार में ही जीवन–बुद्धि रखता है वही भोगी है। भोग का आरम्भ–काल सुखद प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम भयंकर दुःखद होता है। जो साधक भोग के परिणाम पर दृष्टि रखता है उसे भोग से अरुचि हो जाती है। भोग की अरुचि में योग की रुचि का उदय है। योग की रुचि सबल तथा स्थायी होने पर भोग की रुचि का नाश कर देती है। भोग की रुचि का नाश भोग–प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः योग प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की रुचि के नाश मे ही योग की प्राप्ति निहित है।

कोई भी प्राणी अपने को भोगी मानकर चित्त को शुद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि मान्यता के अनुरूप रुचि और रुचि के अनुसार प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति–जनित सुख की आसक्ति नित नया राग उत्पन्न करती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। जब साधक भोग के परिणाम को भली–भाँति जान लेता है, तब भोगवासनाओं का अन्त करने के लिये अपनी मान्यता को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। किसी भी मान्यता की जो अस्वीकृति है, वह किसी अन्य मान्यता की जननी भी है। इस नियम के अनुसार जब साधक अपने को भोगी नहीं मानता तब योगी, जिज्ञासु तथा प्रेमी–इनमें से किसी भी मान्यता को स्वीकार कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में उसके अनुरूप कर्त्तव्य का विधान निहित है। विधान के अनुसार जीवन होने पर मान्यता स्वतः बदल जाती है, अथवा जो सभी मान्यताओं से अतीत है उसका योग, उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम उदित होता है। प्रत्येक मान्यता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक मान्यता के अनुरूप जो विधान है उसमें और जीवन में एकता न हो।

विधान और जीवन की एकता होने पर मान्यता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही साधक को अनन्त की जिज्ञासा और अनन्त का योग, अनन्त का प्रेम प्राप्त होता है, क्योंकि मान्यता कर्त्तव्य का प्रतीक है। कर्त्तव्य—पालन राग—निवृत्ति का साधन है। राग—निवृत्ति होने पर सीमित अहम्—भाव गल जाता है, जिसके गलते ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता में बोध तथा बोध में प्रेम निहित है। भोग, प्राणी का इन्द्रिय, बुद्धि आदि वस्तुओं से तादात्म्य प्रदान करता है और योग सभी वस्तुओं से सम्बन्ध—विच्छेद करा देता है, क्योंकि भोग में कामनापूर्ति और योग से कामना—निवृत्ति होती है। कामना निवृत्त होने पर जिज्ञासा की पूर्त्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति होनेपर किसी भी वस्तु से तादात्म्य नहीं रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सभी वस्तुओं से अतीत है उसमें सहज स्थिति स्वतः हो जाती है। यदि साधक स्थिति—जनित शान्ति में रमण न करे, तो स्थिति का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही योग स्वतः बोध में विलीन हो जाता है जिसके होते ही निस्संदेहता, स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सम्भव नहीं है। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और उसका परिणाम भी हितकर है, परन्तु भोग—वासना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से संबंध जोड़ देती है जिससे काम की उत्पत्ति होती है। काम की उत्पत्ति होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनकी पूर्ति—अपूर्ति के सुख—दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है और सहज योग से विमुख हो जाता है। अतः भोग—वासनाओं के त्याग में ही योग की सिद्धि है। सुख की आशा तथा सुख का सम्पादन एवं उसका भोग प्राणी को मन के अधीन कर देता है, जिसके होते ही मन इन्द्रियों के अधीन और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन हो जाती हैं। इस कारण शान्ति, सामर्थ्य, निस्सन्देहता, अमरत्व आदि से प्राणी विमुख हो जाता है। अतः सुख की आशा से रहित होने से चित्त शुद्ध

हो सकता है।

सुख की आशा का त्याग होते ही अपने आप होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त शांति में होता है। शांति सामर्थ्य, स्वाधीनता आदि की भूमि है और सुख की आशा रहते हुए प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी–न–किसी वस्तु–व्यक्ति आदि का चिन्तन होने लगता है, जो शांति में निवास नहीं होने देता। प्रत्येक प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व जो शांति है वही शांति, यदि प्रवृत्ति के अन्त में हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रवृत्ति का राग मिट सकता है, कारण कि प्रवृत्ति के चिन्तन में ही प्रवत्ति का राग निहित है। प्रवृत्ति तो विद्यमान राग की निवृत्ति का साधनमात्र है। उससे कोई क्षति नहीं होती, किन्तु प्रवृत्ति–जनित सुख की आसक्ति प्रवृत्ति का चिन्तन उत्पन्न कर प्रवृत्ति से तादात्म्य कर देती है, जिसने नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

प्रवृत्ति का अन्त नवीन राग की उत्पत्ति में न हो, प्रत्युत् विद्यमान राग की निवृत्ति में हो, तो चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त की शुद्धि अनावश्यक संकल्पों का अन्त कर देती है और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं होने देती। इतना ही नहीं, संकल्प–निवृत्ति की शांति में भी रमण नहीं करने देती। जब साधक सुख के भोग और शान्ति में रमण नहीं करता, तब अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन में प्रवेश तभी सम्भव होगा, जब साधनरूप मान्यता तथा प्रवृत्ति के द्वारा विद्यमान राग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, अर्थात् प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति स्वतः आ जाय। किसी वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रवृत्ति के अंत में आह्वान न हो और जो वस्तु प्राप्त है उसमें लेशमात्र भी ममता न रहे, अपितु सहज–निवृत्ति पूर्वक शांति, निस्सन्देहता एवं नित–नव रस की प्राप्ति हो। प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का अभाव विवेक साध्य है, जो

वर्तमान में हो सकता है। जो वर्तमान में हो सकता है, उसके लिये भविष्य की आशा करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अथवा उसकी जिज्ञासा एवं उसका प्रेम चित्त को शुद्ध कर देता है। राग—रहित होने से वस्तुओं से अतीत के जीवन में स्थिति अपने आप होती है। राग—रहित होने के लिये ही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना है। पर वह तभी सम्भव होगा जब देह में अहम्‌बुद्धि न हो और वस्तुओं में ममबुद्धि न हो। देह में अहम्‌बुद्धि का त्याग निज विवेक के आदर में निहित है, अर्थात् जिसे 'यह' करके सम्बोधित करते हैं उसमें अहम्‌भाव स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है, अथवा यों कहो कि जो जानते हैं उसको न मानना है। जाने हुए को न मानने से ही देह में अहम्‌बुद्धि उत्पन्न हो गई है और उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना उत्पन्न हो गई है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ गई है। यद्यपि जानने की लालसा नष्ट नहीं हुई, परन्तु वह वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं रह गई है।

व्यक्ति को कामना—पूर्ति जैसे वर्तमान की वस्तु प्रतीत होती है, वैसे ही जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु नहीं प्रतीत होती। इस प्रमाद ने ही जिज्ञासा में शिथिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि कामना—पूर्ति वर्तमान की वस्तु नहीं है, उसके लिये श्रम तथा अप्राप्त वस्तु अपेक्षित रहती है, किन्तु जिज्ञासा—पूर्ति तो किसी वस्तु—विशेष पर निर्भर नहीं है। इतना ही नहीं, प्राप्त वस्तुओं की भी जिज्ञासा—पूर्ति में अपेक्षा नहीं है। जिज्ञासा—पूर्ति तो एकमात्र सन्देह की वेदना असह्य हो जाने पर ही निर्भर है, अथवा यों कहो कि जब साधक वास्तविकता को बिना जाने किसी प्रकार भी नहीं रह सकता, बस उसी काल में जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है। सन्देह रहते हुए चैन से रहना प्रमाद है। सन्देह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है। उससे निराश होना साधक की असावधानी है, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जिज्ञासु ज्यों—ज्यों जाने हुए में दृढ़ होता जाता

है, त्यों–त्यों जिज्ञासा–पूर्ति की योग्यता स्वतः आती जाती है। इस दृष्टि से जाने हुए में दृढ़ रहना ही जिज्ञासा–पूर्ति की सहज साधना है। जाना हुआ दृढ़ तभी होता है जब उसका प्रभाव साधक पर हो जाय।

जो वस्तुएँ इन्द्रिय तथा बुद्धि द्वारा प्रतीत होती हैं उनके वास्तविक स्वरूप को बिना जाने उन पर विश्वास करना सन्देह को सहन करने का स्वभाव बना लेना है, जो जिज्ञासा–पूर्ति में सबसे भयंकर विघ्न है। जिस वस्तु को इन्द्रिय द्वारा जानते हो, उसी वस्तु को बुद्धि के द्वारा जानो । ऐसा करते ही वस्तुओं की स्थिति सुरक्षित न रहेगी, जिसके न रहने से प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना मिट जायेगी, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जायेगी और फिर स्वतः निस्सन्देहता उदित होगी, जो साधक को वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देगी। निस्सन्देहता के साम्राज्य मे पराधीनता नहीं है और न जड़ता है। इसी कारण सन्देह–रहित होने में जो जीवन है वह जीवन वस्तुओं की दासता में नहीं है। वस्तुओं की दासता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओं के विश्वास ने उसके विश्वास का अपहरण कर लिया है जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें विलीन होती है एवं जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती हैं और प्रकाशित होती हैं। यदि साधक विवेक–पूर्वक वस्तुओं की वास्तविकता को जानकर उनके विश्वास से मुक्त हो जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक उन पर विश्वास हो जाता है जिनसे सभी को सब कुछ मिला है, अथवा यों कहो कि जो सभी में है और सभी से अतीत है। यह नियम है कि जिस पर व्यक्ति विश्वास कर लेता है उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे संबंध हो जाता है उसकी स्मृति उदित होती है, जो प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह प्रीति है। कारण, कि प्रीति भेद तथा भिन्नता को खा लेती है।

वस्तुओं के विश्वास ने ही वस्तुओं से तद्रूपता तथा संबंध उत्पन्न कर दिया है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त वस्तुओं की दासता और

अप्राप्त वस्तुओं की कामना में आबद्ध हो गया है, जिससे चित्त में अशुद्धि आ गयी है। अतः वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उसमें स्थिति एवं उसका प्रेम प्राप्त करने के लिये साधक को सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। कारण, कि उसके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं अगाध–अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

२.६.५६

६

अपने संबंध में विकल्प–रहित निर्णय–

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

व्यक्ति अपने संबंध में क्या जानता है और क्या मानता है, इसका विकल्प–रहित निर्णय न होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने सम्बन्ध में व्यक्ति को निस्सन्देह होने के लिये वर्तमान में ही तत्पर होना चाहिए, क्योंकि यह समस्या ऐसी नहीं है जिसके लिये भविष्य की आशा की जाय। इस समस्या के हल हुए बिना कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि जो अपने ही संबंध में सन्देहयुक्त है वह किसी और के संबंध में क्या जान सकता है।

यह नियम है कि अपने संबंध में निस्सन्देह होने पर ही साधक अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य के संबंध में निस्सन्देह हो सकता है, क्योंकि अपने में ही अपना कर्त्तव्य तथा अपना लक्ष्य विद्यमान है। अपने को देह मानकर कोई भी संकल्प–अपूर्ति के दुःख और पूर्ति के सुख से मुक्त नहीं हो सकता और अपने को देह से अलग जानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्ति में निवास कर सकता है। जिसे सुख और दुःख में ही आबद्ध रहना है, वह अपने को देह से अलग अनुभव नहीं कर सकता और जिसे सुख–दुःख से मुक्त होना है वह अपने को

देह में आबद्ध नहीं रख सकता।

अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति अपने को किसी मान्यता में बाँध लेता है। इस दृष्टि से आवश्यकता के ज्ञान में ही अपना ज्ञान निहित है। आवश्यकता उसे नहीं समझना चाहिए जिसकी निवृत्ति सम्भव हो। आवश्यकता वही है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। आवश्यकता की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। इसी कारण आवश्यकता का त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसकी प्राप्ति स्वभाविक है। जिसकी प्राप्ति स्वाभाविक है, उसी में वास्तविक जीवन है और वही अपना लक्ष्य है। यद्यपि आवश्यकता में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह आवश्यकता है, परन्तु आवश्यकता के अपूर्ति काल में यह रहस्य स्पष्ट नहीं होता; प्रत्युत् ऐसा प्रतीत होता है कि जिसको आवश्यकता है, और जिसकी आवश्यकता है, इन दोनों में भिन्नता है। जिसमें आवश्यकता है, वह अपने में अभाव अनुभव करता है, और जिसकी आवश्यकता है उसमें पूर्णता स्वीकार करता है। इस दृष्टि से पूर्णता की आवश्यकता ही आवश्यकता का स्वरूप है। परन्तु जब पूर्णता की लालसा को वस्तुओं की कामनाओं से आच्छादित कर दिया जाता है तब व्यक्ति अपने में अनेक मान्यताओं को स्वीकार करता है और मान्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है।

व्यक्ति एक और मान्यताएँ अनेक हो जाने से अपने सम्बन्ध में बेचारा व्यक्ति विकल्प–रहित निर्णय नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कामनाओं की पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुख में आबद्ध रहता है, और वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न वर्तमान जीवन से संबंधित नहीं रहता। जो समस्या वर्तमान जीवन से संबंधित नहीं रहती, उसके लिये व्यक्ति व्याकुल नहीं होता। जिसके लिये व्याकुलता नहीं होती उसके लिये अपना सर्वस्व समर्पित नहीं होता, अथवा यों कहो कि व्यक्ति उसे सब कुछ देकर नहीं प्राप्त करता। समस्त मान्यताओं के मूल में अपना अस्तित्व क्या है, इसको जाने बिना कामनाओं का अन्त नहीं हो सकता और कामना–निवृत्ति

के बिना आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। आवश्यकता की पूर्ति के बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता।

कामना–पूर्ति–अपूर्ति में जीवन–बुद्धि स्वीकार करना, अपने को देह मान लेना है। अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता और पराधीनता किसी भी व्यक्ति को स्वभाव से प्रिय नहीं है। स्वभाव से अप्रियता उसी में होती है; जिसमें स्वरूप से भिन्नता हो। इस दृष्टि से अपने को देह मानने में अपनी अनुभूति का विरोध है। जिस मान्यता के संबंध में निज–अनुभूति का विरोध हो, उस मान्यता को स्वीकार करना कभी भी विकल्प–रहित नहीं हो सकता। जो मान्यता विकल्प–रहित नहीं है उसका त्याग करना अनिवार्य है।

अपने को देह न मानने पर सभी कामनाऐं निवृत्त हो जाती हैं, जिनके निवृत्त होते ही सुख–दुःख का बन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है; परन्तु जो साधक शांति में रमण करने लगता है उसकी शान्ति सुरक्षित नहीं रहती, जिसके न रहने से साधक उसी स्थिति में आ जाता है जो अभाव–रूप थी। इस दृष्टि से शान्ति में भी जीवन–बुद्धि स्वीकार करना विकल्प–रहित नहीं है।

शान्ति में जीवन–बुद्धि न रहने पर शान्ति में रमण रुचिकर नहीं रहता, क्योंकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता जीवन की है। शान्ति से अरुचि होते ही शान्ति से अतीत के जीवन में प्रवेश होता है, जिसमें पराधीनता नहीं है। अतः स्वाधीनता में जीवन–बुद्धि स्वीकार कर पराधीनता का अन्त करने के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सुख–दुःख तथा शान्ति से अतीत के जीवन की लालसा साधक को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति से असंग कर देती है।

स्वाधीनता की आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती। अतः उसकी पूर्ति अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि स्वाधीनता की आवश्यकता किसमें है। स्वाधीनता की आवश्यकता उसी में हो

सकती है जो पराधीनता से दुःखी है। पराधीनता से दुःखी वही है जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है। जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है, वह किसी भी काल में देह नहीं हो सकता। अतः अपने को देह मानना युक्ति–युक्त नहीं है। देह से तादात्म्य न रहने पर अपना अस्तित्व क्या है, इस संबंध में कुछ भी कहना बनता नहीं, क्योंकि जो कुछ कहा जायगा वह देह के द्वारा ही कहा जायगा। देह के द्वारा जो कुछ कहा जायगा, उसमें किसी–न–किसी अंश में देह का प्रभाव आ जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता उसका अस्तित्व नहीं है। वर्णन भले ही न हो, पर उसकी प्राप्ति हो सकती है।

देह से तादात्म्य कब, किसने स्वीकार किया था, इसका ज्ञान संभव नहीं है, परन्तु देह से तादात्म्य मिटते ही, जो पराधीनता से दुःखी था, वह स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि वह उसका योग, बोध तथा प्रेम हो जाता है जो अनन्त है। इस दृष्टि से व्यक्ति का अस्तित्व अनन्त के योग, बोध और प्रेम की लालसा से भिन्न कुछ नहीं है।

योग, बोध तथा प्रेम की अप्राप्ति–काल में ही उनकी लालसा प्रतीत होती है और उस लालसा के आधार पर ही व्यक्तित्व का भास होता है। लालसा के पूर्ति–काल में व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व शेष नहीं रहता, और न उसकी प्रतीति ही होती है। इस दृष्टि से अपने अस्तित्व के संबंध में वास्तविक जीवन की लालसा के अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते। परन्तु यह रहस्य तभी खुलता है जब लालसा की पूर्ति हो, और लालसा की पूर्ति तभी हो सकती है जब वस्तु–व्यक्ति आदि की कामनाओं की निवृत्ति हो। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की कामना के आधार पर व्यक्ति अपने में देह–बुद्धि स्वीकार करता है।

कामना–पूर्ति के प्रलोभन का नाश होते ही देह से स्वतः संबंध विच्छेद हो जाता है, अथवा यों कहो कि समस्त कामनाएँ गलकर वास्तविक लालसा के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती हैं, जिसके होते

ही भोग, योग में; अविवेक, बोध में और आसक्ति, प्रेम में बदल जाती है; अथवा यों कहो कि योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति किसको होती है, इसके संबंध में यही कह सकते हैं कि भोग, अविवेक और आसक्ति में जो आबद्ध था उसी को योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति हुई। भोक्ता में—से भोग की रुचि और भोग की प्रवृत्ति को अलग कर देने पर भोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अविवेकी में—से अविवेक और आसक्त में—से आसक्ति विभाजित करके उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, जिसमें भोक्ता का आरोप है उसी में अविवेक और आसक्ति का आरोप है, अर्थात् भोक्ता को ही अविवेकी और आसक्त कह सकते हैं।

भोक्ता कोई और हो, और अविवेकी तथा आसक्त कोई और हो, ऐसा सम्भव नहीं है। जो भोक्ता है वही कर्त्ता भी है क्योंकि भोक्तृत्व किसी और में हो, और कर्तृत्व किसी और में हो—यह भी युक्ति—युक्त नहीं है। जो अपने को भोक्ता तथा कर्त्ता मानता है उसी में भोग के दुःखद परिणाम के कारण जिज्ञासा तथा लालसा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो कर्त्ता—भोक्ता था वह अपने को जिज्ञासु और योग, बोध तथा प्रेम तथा प्रेम का अभिलाषी मानता है। भोग की रुचि का नाश करने के लिये जो लालसा जाग्रत होती है, वही लालसा अविवेक तथा आसक्ति का भी नाश करती है, क्योंकि भोग की रुचि का नाश होते ही अविवेक तथा आसक्ति का नाश स्वतः हो जाता है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान ज्यों—ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों—त्यों वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा का त्याग स्वतः होता जाता है। जिस काल में वस्तुओं की वास्तविकता का बोध हो जाता है, उसी काल में उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश में नाश हो जाता है, जिसके होते ही समस्त वस्तुओं से स्वतः विमुखता हो जाती है। वस्तुओं की विमुखता में ही

अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के ही अर्थ में लेना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय–ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न–भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं; और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है, अथवा यों कहो कि इन्द्रिय–ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं और बुद्धि–ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है। बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं।

संकल्प–पूर्ति में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दुःखों से बच नहीं सकता और न अपने को देह से भिन्न ही अनुभव कर सकता है, अथवा यों कहो कि अपने में से देहभाव का त्याग नहीं कर सकता। संकल्प–पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा संकल्प–पूर्ति के सुख में आबद्ध साधक अपने को देहाभिमान से रहित नहीं कर पाता। इस जड़ता के जीवन से ऊपर उठने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय दुखियों की संकल्प–पूर्ति में हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा। करुणित होने से जड़ता कोमलता में परिवर्तित हो जाएगी और सुख–भोग की रुचि स्वतः मिट जायगी, जिसके मिटते ही सभी का दुःख अपना और अपना सुख सभी का हो जाएगा। ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जाएगा, जिसके मिटते ही वस्तुओं से असंगता हो जाएगी, जो सभी दोषों का अन्त करने में समर्थ है।

दोषों के अन्त में ही निर्दोषता की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। निर्दोषता की प्राप्ति में ही भोग योग में स्वतः बदल जाता है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य में ही स्वाधीनता और स्वाधीनता में ही नित्य–जीवन तथा प्रेम निहित है। सुख के त्याग में शान्ति की प्राप्ति और शांति में ही सामर्थ्य का उदय होता है। सामर्थ्य के सद्व्यय से स्वाधीनता प्राप्त होती है, और स्वाधीनता में

सन्तुष्ट न होने पर प्रेम की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि संकल्प—पूर्ति की दासता से मुक्त होने पर शांति, शान्ति में रमण न करने से स्वाधीनता और स्वाधीनता के समर्पण में परम प्रेम का उदय है, जो नित—नव रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने संबंध में विकल्प—रहित निर्णय यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने को वास्तविकता का जिज्ञासु अथवा अनन्त का प्रेमी स्वीकार करे। अपने को जिज्ञासु अथवा प्रेमी स्वीकार करते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, क्योंकि जिज्ञासु तथा प्रेमी की मान्यता में देहाभिमान तथा वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती, जो चित्त की शुद्धि में समर्थ है।

३.६.५६

७

स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जब व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में न करके अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति में करने लगता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक आवश्यकता के रहते हुए अस्वाभाविक इच्छाओं की उत्पत्ति ही क्यों होती है? उसका एकमात्र कारण यह है कि व्यक्ति सामर्थ्य तथा योग्यता में ही जीवन बुद्धि स्वीकार कर लेता है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में जीवन बुद्धि स्वीकार करते ही देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। देह में अहम्—बुद्धि दृढ़ होते ही अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जो बेचारे प्राणी को वस्तु, अथवा परिस्थिति आदि में आबद्ध कर देती हैं।

स्वाभाविक आवश्यकता और अस्वाभाविक इच्छाओं में एक बड़ा

अन्तर यह है कि अस्वाभाविक इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती, क्योंकि अनेक बार इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रवृत्त होने पर भी परिणाम में अभाव ही शेष रहता है; परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं रसरूप अनंत–नित्य जीवन की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, अस्वाभाविक इच्छाओं की प्रवृत्ति के लिये किसी–न–किसी वस्तु आदि की अपेक्षा होती है, किन्तु स्वाभाविक आवश्यकता–पूर्ति के लिये किसी भी वस्तु या व्यक्ति की अपेक्षा नहीं होती, अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय केवल सर्वहितकारी प्रवृत्ति में ही होता है। इस दृष्टि से प्राप्त–अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की अपेक्षा स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता के अभिमान तथा संग्रह से रहित होने के लिये उनका सद्व्यय करना अनिवार्य होता है। यही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग साधनरूप है। साधन में साध्य–बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन–सामग्री साधन के लिये अभीष्ट है, पर उसमें जीवन–बुद्धि मान लेना साध्य से विमुख होना है, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति से वंचित होना और अस्वाभाविक इच्छाओं में आबद्ध हो जाना है, उससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति किसी परिस्थिति में निहित नहीं है। उसके लिये किसी परिस्थिति का चिंतन करना आवश्यकता को इच्छाओं का रूप देना है। आवश्यकता एक है और इच्छाएँ अनेक। आवश्यकता उसी की है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, और इच्छाएँ उसकी हैं जिसमें सतत परिवर्तन तथा अभाव है। स्वाभाविक आवश्यकता तथा इच्छाओं का भेद जान लेने पर इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता–पूर्ति की उत्कट लालसा जाग्रत होती है। आवश्यकता–पूर्ति की लालसा ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वतः निर्जीव होती जाती हैं, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की जाग्रति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन इच्छाओं में प्रवृत्त होना अनिवार्य है उनकी प्रवृत्ति के लिये परिस्थिति स्वतः प्राप्त होती है और जिन इच्छाओं की प्रवृत्ति अनावश्यक है उनके लिये परिस्थिति प्राप्त नहीं होती। इस रहस्य को न जानने के कारण बेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगता है।

यद्यपि चिन्तनमात्र से परिस्थिति प्राप्त तो नहीं हो जाती, परन्तु अप्राप्त परिस्थिति की आसक्ति अथवा रुचि दृढ़ होती है। जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसकी रुचि उत्पन्न हो जाय, उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी विवशता में आबद्ध होकर कभी तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है और कभी उसे निरर्थक मानकर झूठा सन्तोष करता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध हो जाने पर जो जानना चाहिए उसकी जिज्ञासा सबल नहीं होती और जो मानना चाहिए उस पर विकल्प—रहित विश्वास नहीं होता। परिस्थितियों के स्वरूप को यथावत् जाने बिना परिस्थितियों की दासता नष्ट नहीं होती, और सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसको माने बिना उस पर विश्वास तथा उससे नित्य—सम्बन्ध नहीं होता। परिस्थितियों की दासता का अन्त होने पर ही अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश होता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विकल्प—रहित विश्वास होने से ही उस जीवन की स्मृति का उदय होता है।

समस्त परिस्थितियों की अभिरुचि का नाश और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की स्मृति समस्त अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्राप्त—अप्राप्त परिस्थितियों में निरर्थकता का दर्शन दो प्रकार से होता है, एक तो परिस्थितियों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से और दूसरा रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से। रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से परिस्थिति में जो निरर्थकता का भास होता है, वह परिस्थित्तियों की दासता से मुक्त नहीं कर पाता,

अपितु ऊपर से तो परिस्थिति की अरुचि का अपने में आरोप कर लेता है और भीतर परिस्थिति की दासता ज्यों–की–त्यों बनी रहती है। इस भयंकर स्थिति में बेचारे साधकके चित्त की बड़ी ही दीन दशा हो जाती है, जो मिथ्या अहंकार को जन्म देकर उस बेचारे को अस्त–व्यस्त कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो स्वतः होना चाहिए वह होता नहीं, और जो हो ही नहीं सकता उसके करने की सोचता रहता है, जिससे प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का ह्रास होता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसके बिना किये विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं होती, प्रत्युत् अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है।

यद्यपि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है, और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु बेचारा साधक परिस्थिति के स्वरूप को जाने बिना राग–रहित नहीं हो पाता और राग–रहित हुए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन की प्राति नहीं होती।

परिस्थितियों के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से परिस्थितियों में जो निरर्थकता ज्ञात होती है, उससे परिस्थिति में जीवन–बुद्धि नहीं रहती, जिसके न रहने पर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य आ जाती है, और अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असंग करने में समर्थ है, और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग किसी भी परिस्थिति से संबंध नहीं होने देता, अर्थात् परिस्थिति से असंगता सुरक्षित रहती है, जिससे सभी परिस्थितियों से विमुखता दृढ़ हो जाती है, जो परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है।

जिस ज्ञान से परिस्थितियों के स्वरूप का बोध होता है, वह ज्ञान क्या किसी परिस्थिति का ही परिणाम है ? अथवा परिस्थिति किसी ज्ञान की अभिव्यक्ति है ? अथवा यों कहो कि क्या जड़ता से चेतन की उत्पत्ति हुई है? अथवा जड़ता चेतन की ही एक अभिव्यक्ति है?

इन दोनों मान्यताओं में से जिस साधक को जो मान्यता मान्य हो, वह उसी को भले ही माने, पर यह तो दोनों ही को मान्य होगा कि साधक को जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होना है। यदि चेतना को जड़ता का परिणाम कोई माने, तो भी यह तो मानना ही होगा कि चेतन को जड़ की ओर गतिशील नहीं होना चाहिए, क्योंकि चेतन का जड़ की ओर गतिशील होना विकास से ह्रास की ओर जाना है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

यदि जड़ता को चेतना की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय, तब भी जड़ता का अभाव स्वीकार कर चेतन से ही अभिन्न होना अभीष्ट होगा। उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में से किसी भी मान्यता का यह मत नहीं हो सकता कि चेतना से जड़ता की ओर जाना चाहिए। जड़ता से संबंध–विच्छेद करना अथवा जड़ता के अस्तित्व को स्वीकार न करना दार्शनिक भेद हो सकता है, पर चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में दोनों ही दार्शनिक दृष्टियाँ समर्थक हैं, विरोधी नहीं। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि का सद्व्यय जिस जीवन से अभिन्न करता है वह जीवन एक है। दर्शन में भेद होने से साधन में भेद हो सकता है, पर वास्तविक लक्ष्य में भेद नहीं हो सकता। इस दृष्टि से परिस्थितियों की अभिरुचि का त्याग प्रत्येक साधक को अभीष्ट होगा, क्योंकि सभी साधकों की स्वाभाविक आवश्यकता एक है।

अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि और परिस्थितियों में निरर्थकता के दर्शन का द्वन्द्व तभी मिट सकता है, जब प्राप्त परिस्थिति का आदर पूर्वक सदुपयोग हो और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश हो तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में विश्वास हो, क्योंकि परिस्थितियों से अतीत के जीवन का विश्वास परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त की देन तथा प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस मान्यता से प्रत्येक परिस्थिति में समान बुद्धि हो जाएगी, जो परिस्थितियों के सदुपयोग की प्रेरणा देने में समर्थ है।

परिस्थिति का सदुपयोग बड़ी सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से,

पूरी शक्ति लगाकर, स्वाभाविक आवश्यकता पर दृष्टि रखकर, करना चाहिए। परिस्थिति–जन्य सुख–दुःख में आबद्ध नहीं होना चाहिए और परिस्थिति की अपूर्णता तथा परिवर्तन के ज्ञान का आदर करना चाहिए। प्राप्त परिस्थिति की ममता और अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि के त्याग में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

स्वाभाविक आवश्यकता किसी परिस्थिति की नहीं है, अपितु सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की है, क्योंकि ऐसी कोई परिस्थिति है ही नहीं जिससे सामर्थ्य, स्वाधीनता एवं नित–नतून रस तथा अनन्त–नित्य–चिन्मय जीवन की प्राप्ति हो। परिस्थिति तो केवल राग–निवृत्ति का साधन मात्र है। स्वाभाविक आवश्यकता वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना साधक की भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। स्वाभाविक आवश्यकता ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों परिस्थिति–जनित खिन्नता स्वतः मिटती जाती है। खिन्नता का अन्त होते ही अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि स्वतः मिट जाती है, क्योंकि खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। और काम की उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओं को जन्म देती है। स्वाभाविक आवश्यकता की शिथिलता में ही अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। इसी कारण इच्छाओं की पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख में प्राणी आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिक–दृष्टि से कर्म का परिणाम तथा प्राकृतिक न्याय, अध्यात्म–दृष्टि से माया–मात्र और आस्तिक दृष्टि से उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित निहित है। इस कारण उसका आदर किया जाय, किन्तु उसमें जीवन–बुद्धि की स्थापना न की जाय, क्योंकि न्याय उद्देश्य की पूर्ति में साधनरूप होता है, उसमें जीवन नहीं है। जो माया–मात्र है, उसमें मिथ्याबुद्धि होते ही उसकी सत्यता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वास्तविकता का बोध हो जाता है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति जीवन नहीं है।

अनन्त की अभिव्यक्ति अनन्त से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है, प्रत्युत् वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमें उसी की सत्ता है अथवा वही है। उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से परिस्थिति–मात्र में ही जीवन–बुद्धि रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चित्त की शुद्धि भौतिक–दृष्टि से परिस्थितियों के सदुपयोग में, अध्यात्म–दृष्टि से परिस्थितियों के अभाव में और आस्तिक दृष्टि से परिस्थितियों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा में निहित है।

४.६.५६

८

निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

यदि व्यक्ति अपने दोष और दुःख से भली–भाँति परिचित हो जाय, अर्थात् उसे अपने दोष और दुःख का यथावत् ज्ञान हो जाय, अथवा साधक को अपने साधन तथा साध्य में विकल्प–रहित विश्वास हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। कारण, कि चित्त की अशुद्धि एकमात्र अपने दुःख और दोष के संबंध में यथेष्ट ज्ञान तथा साधन और साध्य में विकल्परहित विश्वास न होने में ही है। अतः निज–विवेक के प्रकाश में अपने दुःख और दोष को जानना अनिवार्य है, जिसे वह स्वयं जान सकता है। दुःख का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही उसकी निवृत्ति की उत्कट अभिलाषा जाग्रत होती है, और दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता की आवश्यकता निहित है। इस दृष्टि से दुःख तथा दोष का ज्ञान ही व्यक्ति के विकास का मूल है।

ऐसा कोई दोष है ही नहीं जिसके मूल में कामना–उत्पत्ति न हो,

और ऐसा कोई दुःख है ही नहीं जिसके मूल में कामना—उत्पत्ति न हो। कामना—उत्पत्ति और अपूर्ति ही दोष तथा दुःख है, जो वास्तव में अविवेक—सिद्ध है। प्राप्त विवेक के आदर से अविवेक की निवृत्ति वर्तमान में हो सकती है। कारण, कि विवेक के अनादर के अतिरिक्त अविवेक कोई वस्तु ही नहीं है। विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नहीं है, उसे व्यक्ति ने स्वयं ही अपनाया है। इस कारण उसके त्याग का दायित्व उसी पर है। अपने अपनाए हुए दोष के त्याग में ही व्यक्ति का पुरुषार्थ निहित है। यह नियम है कि पुरुषार्थ की पूर्णता में ही कर्त्तव्य की समाप्ति है, और कर्त्तव्य की समाप्ति में सफलता स्वतः सिद्ध है।

विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। उसके उपयोग मात्र में ही प्राणी का पुरुषार्थ है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि कर्म—अनुष्ठान से पूर्व कर्म की सामग्री बिना किसी कर्म के ही प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक नियम है। ऐसा कोई कर्म हो ही नहीं सकता जिसकी सिद्धि ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तुओं के बिना सम्भव हो। प्रत्येक परिवर्तनशील परिस्थिति भले ही कर्म का परिणाम हो, परन्तु कर्म की मूल सामग्री किसी कर्म का परिणाम नहीं हो सकती। वह तो किसी की देन है, अथवा यों कहो कि स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। जिसको जितना प्राप्त है उसके सद्व्यय में ही व्यक्ति का अधिकार है और वही उसका साधन है।

ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएँ असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति उनकी खोज भले ही कर सके, पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नियम है कि खोज उसी की होती है, जो है। इस दृष्टि से विज्ञान विज्ञानवेत्ता की, दर्शन, दर्शनकार की और कला, कलाकार की खोज है, उपज नहीं। जिस प्रकार दाना भूमि से मिलकर अपने स्वाभावानुसार विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अन्तर्मुख होकर अपनी रुचि के अनुसार विकास पाता है। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति को ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तु प्राप्त है वह

उस अनन्त की है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति ने तो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य एवं वस्तु में केवल ममता कर ली है, अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं ज्ञान का अभिमान कर लिया है। अनन्त की देन को अनन्त के समर्पित करना साधन है और उसी के नाते प्राप्त का सदुपयोग करना भी साधन है। इतना ही नहीं, जिससे सब कुछ मिला है उसको बिना प्राप्त किये सर्वांश में दुःख तथा दोष का अन्त नहीं हो सकता। अतः उसको प्राप्त करना ही साध्य है। प्राप्ति से पूर्व साधन और साध्य के सम्बन्ध में विकल्प–रहित विश्वास ही हो सकता है, साध्य के स्वरूप का बोध नहीं। जिस प्रकार प्रत्येक बीज अपने स्वभाव का अन्त किये बिना उसके स्वरूप को नहीं जान पाता, जिससे वह विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वभाव का अन्त किये बिना उस अनन्त के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता, जिससे वह सब प्रकार का विकास पाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति में सतत परिवर्तन तथा विनाश है। अतः प्राप्त वस्तु आदि से ममता करना, उनका अभिमान करना, उनमें रमण करना तथा उनके आश्रय को स्थायी बनाना, अविवेक के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

वस्तुओं के सतत परिवर्तन तथा उनके अदर्शन की अनुभूति का अनादर ही अविवेक को पुष्ट करता है और उसकी पुष्टि से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

इस मूल दोष को स्पष्ट जान लेने से कामना–निवृत्ति तथा अविवेक का अन्त करने की लालसा जाग्रत होती है। वह लालसा ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों अनन्त की अहैतुकी कृपा–शक्ति स्वतः उस लालसा की पूर्ति की सामर्थ्य तथा योग्यता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अविवेक का अन्त करने की अभिलाषा ही अविवेक के नाश में समर्थ है। मूल दोष तथा दुःख के रहते हुए समस्त दोषों और दुःखों का सदा के लिये अन्त नहीं हो सकता और उसका अन्त हुए बिना साधन तथा साध्य में विकल्प

रहित विश्वास नहीं हो सकता।

अविवेक तथा कामना–उत्पत्ति ही मूल भूल, अर्थात् दोष है। इस दोष की निवृत्ति विवेक तथा कामना–निवृत्ति से ही सम्भव है। उसके लिये प्राप्त विवेक का आदर करना होगा। कामना–अपूर्ति ही मूल दुःख है। उसकी निवृत्ति कामना–पूर्ति द्वारा सम्भव नहीं है। हाँ, जो कामनाएँ किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकतीं उनकी पूर्ति प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः हो जाती है। परन्तु उन कामनाओं की पूर्ति का जो सुख है साधक को उसका त्याग करना होगा। कामना–पूर्ति के सुख–भोग से रहित होने पर नवीन कामनाएँ उत्पन्न नहीं होंगी। इस दृष्टि से जो कामनाएँ मिटाई नहीं जा सकती, वे पूरी हो–होकर स्वतः मिट जायेंगी। कामना–पूर्ति के सुख के प्रलोभन से ही नवीन कामनाओं का जन्म होता है। जिन कामनाओं की पूर्ति किसी भी कारण से संभव नहीं है, उन कामनाओं का त्याग करना ही अनिवार्य है। कामनाओं के त्याग में साधक सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता कामना–पूर्ति में है, निवृत्ति में नहीं। कामना–निवृत्ति का महत्त्व जानने पर पराधीनता सदा के लिये मिट जाती है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कामना–पूर्ति का प्रलोभन वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा उत्पन्न करता है और कामना–अपूर्ति के दुःख से भयभीत होने पर कामना–पूर्ति का प्रलोभन उत्पन्न होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कामना–अपूर्ति का दुःख कामना–पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिये आता है। पर प्राणी असावधानी के कारण उस दुःख से भयभीत हो जाता है, जिसके होते ही चित्त में नीरसता तथा खिन्नता उत्पन्न होती है। नीरसता तथा खिन्नता की भूमि में ही काम का जन्म होता है जो समस्त कामनाओं की भूमि है। इस दृष्टि से काम का अन्त हुए बिना कामनाओं की निवृत्ति सम्भव नहीं है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश नहीं हो सकता और प्रीति के बिना नीरसता मिट नहीं सकती। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने ही प्राणी को जड़ता में आबद्ध कर दिया है। जड़ता में आबद्ध होने से ही प्रीति आच्छादित हो गयी है। वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ

ज्ञान होने पर ही जड़ता का नाश हो सकता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये साधक को सर्वप्रथम शरीर रूपी वस्तु के स्वरूप को जानना होगा। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सारे विश्व का ज्ञान हो जाता है। कारण, कि शरीर विश्वरूपी सागर की ही एक लहर है।

शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता में ही समस्त विश्व की सत्यता तथा सुन्दरता निहित है, अथवा यों कहो कि शरीर की आसक्ति ने ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति उत्पन्न कर दी है। शरीर के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर इसकी सत्यता तथा सुन्दरता स्वतः मिट जाती है। अतः जो ज्ञान प्राप्त है उससे शरीर की वास्तविकता को जानकर साधक बड़ी ही सुगमता से काम रहित हो सकता है। जिस साधक को अपने शरीर में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता, उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता। वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश होते ही वस्तुओं की ममता अपने आप मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध होने लगता है और सर्वांश में वस्तुओं का संबंध—विच्छेद होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

जिस ज्ञान से वस्तुओं की वास्तविकता का बोध होता है, उसी ज्ञान में वस्तुओं से संबंध—विच्छेद करने की सामर्थ्य विद्यमान है और वह ज्ञान प्रत्येक साधक को प्राप्त है। अतः जो ज्ञान प्राप्त है, उसी के द्वारा साधक को प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को जान लेना चाहिए, जिससे वस्तुओं की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश हो जाए और वस्तुओं से अतीत के जीवन में विकल्परहित विश्वास हो जाए। वस्तुओं से अतीत का जीवन ही वास्तविक साध्य है और जिस ज्ञान से वस्तुओं के स्वरूप का बोध होता है, वह ज्ञान वास्तविक साधन है।

वस्तुओं से तद्रूपता स्वीकार करना ही मूल दोष है, जिसकी निवृत्ति उसी ज्ञान से हो सकती है जिस ज्ञान से वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मूल दोष की निवृत्ति में ही साधन की पूर्णता है, और साधन की पूर्णता में ही सिद्धि निहित है।

निज ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप को जानने का प्रयास न करना ही साधक की असावधानी है, और अनन्त की देन का अनादर है। अनन्त की देन का अनादर तथा असावधानी को अपनाना ही असाधन है। असाधन का त्याग किए बिना साधन में श्रद्धा तथा तत्परता उत्पन्न नहीं होती, जिसके उत्पन्न हुए बिना साधन–परायणता नहीं होती, और साधन–परायणता के बिना सिद्धि नहीं होती। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही मूल साधन है। इस मूल साधन में विकल्प–रहित विश्वास करना अनिवार्य है। निज ज्ञान का आदर करने पर बड़ी सुगमता से असाधन का अन्त हो सकता है, जो मूल साधन है। निज ज्ञान का आदर करने पर कोई भी साधक अपने को देह नहीं मान सकता। अपने में से देह–भाव का त्याग होते ही किसी भी कामना की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूल दोष की निवृत्ति का साधन एक मात्र निज ज्ञान के द्वारा अपने में से देह–भाव का त्याग करना है। अपने में से देह–भाव का त्याग वर्त्तमान में हो सकता है। अतः मूल दोष की निवृत्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिये भविष्य की आशा करना भूल है।

जो वर्तमान जीवन की वस्तु है उसे वर्तमान में ही पूरा करना है, और जिसे वर्तमान में पूरा करना है उसके करने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। परन्तु मूल साधन में विकल्प रहित विश्वास न होने के कारण बेचारा साधक साधन–निष्ठ होने में अपने को असमर्थ मान बैठता है, जो वास्तविकता नहीं है। निज विवेक के द्वारा अपने में से देह–भाव का त्याग मूल साधन है। सभी वस्तुओं से अतीत का जीवन ही साध्य है। इन दोनों में विकल्प–रहित विश्वास होने पर कामना उत्पत्ति और अपूर्ति (जो मूल दोष तथा दुःख है) की निवृत्ति हो सकती है। मूल दोष तथा दुःख के ज्ञान से साधन और साध्य में विकल्प–रहित विश्वास स्वतः होता है और साधन तथा साध्य में विकल्प–रहित विश्वास होने से दोष और दुःख की निवृत्ति होती है। अतः मूल दोष और दुःख के वास्तविक ज्ञान से तथा साधन और साध्य में विकल्प–रहित विश्वास होने से चित्त शुद्ध होता है।

५–६–५६

९

इन्द्रिय–ज्ञान का सदुपयोग एवं बुद्धि–ज्ञान का आदर–

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने के प्रयास में, और जाने हुए दोष को बनाए रखने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। जाने हुए दोष को बनाये रखने में प्रधान कारण सुख–लोलुपता ही है, क्योंकि दोष–जनित सुख से अरुचि होने पर दोष मिटाने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, अथवा यों कहो कि दोष स्वतः मिट जाते हैं। कामना–पूर्ति के अतिरिक्त सुख का और कोई स्वरूप नहीं है। कामना–पूर्ति में पराधीनता का दोष सदैव रहता है। इस दृष्टि से समस्त सुख दोष जनित ही हैं, क्योंकि पराधीनता समस्त दोषों का केन्द्र है। अतः आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने तथा मिटाने का प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है, क्योंकि सुख नवीन दुःख को जन्म देता है, और प्रत्येक सुख के आरम्भ में भी किसी–न–किसी प्रकार के दुःख को अपनाना ही पड़ता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार दुःख, सुख की दासता से मुक्त करने के लिये अथवा सुख की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिये आता है। इस दृष्टि से दुःख जीवन का आवश्यक अंग है। उससे भयभीत होना भूल है। दुःख का सदुपयोग सुख तथा सुख की दासता से मुक्त कर सुख–दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, सुख के सदुपयोग के लिये भी

दुःख ही अपेक्षित है, क्योंकि पर दुःख से दुखी हुए बिना कोई भी उदार तथा करुण नहीं हो सकता और करुणा तथा उदारता में ही सुख का सद्व्यय सम्भव है, अथवा यों कहो कि सुख का महत्त्व तभी प्रतीत होता है जब किसी दुःखी से संबंध स्थापित किया जाय। यदि दुःख तथा दुःखी का दर्शन न हो, तो सुख की प्रतीति ही सम्भव नहीं है।

दुःख का अत्यन्त अभाव होने पर कभी सुख का दर्शन ही नहीं होता, क्योंकि दुःख के अभाव में तो आनन्द है, जीवन है, नितनूतन अगाध अनन्त रस है। इतना ही नहीं, सुख प्राणी को जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करता है और आनन्द चिन्मयता तथा स्वाधीनता से अभिन्न करता है। सुख का भास कामना–पूर्ति में और आनन्द में प्रवेश कामना–निवृत्ति से होता है। सुख अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है और आनन्द सब प्रकार के भेदों का अन्त करता है। सुख, भोग और भोक्ता को जन्म देता है और आनन्द, स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। सुख सीमित और परिवर्तनशील है और आनन्द असीम तथा अपरिवर्तनशील है। इस दृष्टि से सुख और आनन्द में बड़ा भेद है। पर इस रहस्य को बिना जाने बेचारा प्राणी सुख का दास हो जाता है और आनन्द से निराश हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि में हेतु है।

अपने आप आए हुए दुःख को सुख के द्वारा दबाने की रुचि क्यों होती है, और जाने हुए दोष को बनाए रखने का स्वभाव क्यों बन गया है ? सुख–भोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आए हुए दुःख को सुख से दबाने का प्रयास करता है, और सुख को सुरक्षित बनाये रखने के लिये ही जाने हुए दोष को अपनाता है। सुख–भोग की आसक्ति का मूल कारण अपने में इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव का अंकित होना है। जिसमें इन्द्रियज्ञान का प्रभाव अंकित है, वह क्या है, इसका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। परन्तु उसका भास अपने में ही प्रतीत होती है। अपने का स्पष्ट अर्थ भी ज्ञात नहीं है, तभी इन्द्रियों का ज्ञान अंकित होता है। परन्तु जब बुद्धि–ज्ञान का प्रभाव अंकित

होने लगता है, तब इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञान अंकित नहीं हो सकता, अपितु अल्प–ज्ञान विशेष ज्ञान में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि अल्प–ज्ञान विशेष–ज्ञान से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि अल्प–ज्ञान मिट जाता है। जिस प्रकार अल्प प्रकाश विशेष प्रकाश में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि जैसे विशेष प्रकाश अल्प प्रकाश को खा लेता है, उसी प्रकार विशेष–ज्ञान अल्प–ज्ञान का नाशक है।

इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव जिसमें अंकित होता है वह अपने को भोगी अथवा कामी मान लेता है। पर जब बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान में सन्देह उत्पन्न करता है, तब वही कामी अपने को जिज्ञासु मान लेता है। अपने को कामी स्वीकार करते ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी पूर्ति–अपूर्ति में सुख–दुःख का भास होता है। परन्तु ज्यों–ज्यों इन्द्रिय–ज्ञान में संदेह होता जाता है, त्यों–त्यों जिज्ञासा जाग्रत होती जाती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का नाश करने लगती है। जिस काल में इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति हो जाती है और जिज्ञासा की पूर्ण जागृति में कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है।

कामनाओं की निवृत्ति होते ही जिसने अपने को कामी स्वीकार किया था, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत नहीं होता, अपितु जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। जिज्ञासा जिससे अभिन्न होती है, वह कोई वस्तु नहीं है, अपितु समस्त वस्तुओं से अतीत, अनुपम, विलक्षण तत्त्व है। उसकी प्राप्ति सम्भव है, पर उसका वर्णन सम्भव नहीं है। कारण, कि इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव मिटते ही बुद्धि का ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और फिर इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का भेद शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि बुद्धि तथा उसके ज्ञान का महत्त्व भी नहीं रहता, क्योंकि महत्त्व उसी का रहता है जिसकी आवश्यकता हो। बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक इन्द्रियों के ज्ञान का

प्रभाव अंकित है, अथवा यों कहो कि जिस प्रकार बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी प्रकार अनन्त–नित्य–ज्ञान बुद्धि के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही समस्त तारामण्डल का प्रकाश उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव अनन्त ज्ञान में विलीन हो जाता है।

परन्तु जब तक इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव सर्वांश में नाश नहीं होता, तब तक बुद्धि के ज्ञान का महत्त्व तथा उसका अस्तित्त्व भासित होता है। जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठ को भस्म कर स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अपने में उत्पन्न हुआ बुद्धि–ज्ञान इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव को खाकर स्वयं सम हो जाता है, जिसके होते ही वही ज्ञान अपने आपमें ज्यों–का–त्यों स्थित हो अपने आपको प्रकाशित करता है।

इन्द्रिय–ज्ञान तथा बुद्धि–ज्ञान का द्वन्द्व जब तक रहता है, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि–ज्ञान में शिथिलता भले ही आ जाय, पर बुद्धि–ज्ञान का नाश नहीं होता और बुद्धि–ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व बुद्धि–ज्ञान के प्रभाव से ही मिट सकता है। इन्द्रिय ज्ञान से नहीं।

इन्द्रिय–ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचार–युक्त और बुद्धि–ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचार–युक्त होती है। यद्यपि अपने प्रति किसी को दुराचार युक्त प्रवृत्ति अभीष्ट नहीं है, परन्तु इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव से आसक्त प्राणी दूसरों के प्रति दुराचार–युक्त प्रवृत्ति करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जो अपने को अभीष्ट है, वही दूसरों के प्रति करने से बुद्धि–ज्ञान का प्रभाव इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है और फिर इन्द्रिय–ज्ञान तथा बुद्धि–ज्ञान का द्वन्द्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव में आसक्त प्राणी सुख का दास हो जाता

है और दुःख से भयभीत होने लगता है। सुख की दासता और दुःख का भय चित्त को शुद्ध नहीं होने देता। यद्यपि बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय–ज्ञान की अपेक्षा कहीं सबल तथा स्थायी है, परन्तु सुख–लोलुपता के कारण प्राणी बुद्धि–ज्ञान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अल्प सुख के लिये घोर दुःख भोगता है, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सुख की अवधि दुःख की अपेक्षा कहीं अल्प है; अर्थात् दुःख सुख की अपेक्षा सबल भी है और चिरायु भी। सुख–दुःख के इस रहस्य को जान लेने पर सुख का महत्त्व घट जाता है, जिसके घटते ही इन्द्रिय–जन्य ज्ञान का प्रभाव स्वतः मिट जाता है, अथवा यों कहो कि बुद्धि–ज्ञान का प्रभाव दृढ़ हो जाता है; जिसके होते ही जीवन संयम, सदाचार और सेवायुक्त हो जाता है।

बुद्धि–ज्ञान के प्रभाव में कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है। ज्यों–ज्यों कर्त्तव्य–परायणता दृढ़ तथा स्वाभाविक होती जाती है, त्यों–त्यों अकर्त्तव्य का अन्त स्वतः होता जाता है। अकर्त्तव्य का अन्त होने पर स्वार्थ–भाव, दुराचार और असंयम का अन्त हो जाता है; अथवा यों कहो कि सर्वांश में संयम, सदाचार और सेवा स्वतः होने लगती है। संयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता में सीमित अहम्भाव स्वतः गल जाता है, जिसके गलते ही भेद का नाश हो जाता है और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि अनन्त–नित्य–चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

संयम, सदाचार और सेवा की अपूर्णता में ही अहम्भाव प्रतीत होता है, जिससे भेद की उत्पत्ति होती है, क्योंकि गुणों के अभिमान के बिना भेद की उत्पत्ति संभव नहीं है। गुण का अभिमान गुणों की अपूर्णता में ही जीवित रहता है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। जो गुण देहाभिमान को पुष्ट करता है वह गुणों के वेष में वास्तव में दोष है, क्योंकि देहाभिमान के रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता सभव नहीं है। इतना ही नहीं, जो दोष, दोष के स्वरूप में प्रतीत होता है, उसकी निवृत्ति सुगमतापूर्वक हो सकती है, किन्तु जो दोष गुण का

वेष धारण करके आता है उसका अन्त करना बड़ा ही दुष्कर होता है। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान महान दोष है। समस्त गुण स्वरूप से उस अनन्त का स्वभाव है, जिससे सभी को सब कुछ प्राप्त होता है और जो सभी का सब कुछ है। संयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता में संयमी, सदाचारी और सेवकपन का भाव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिसे अपने में संयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है, वह वास्तव में संयमी, सदाचारी तथा सेवक है नहीं।

सर्वांश में असंयम का अन्त संयम के अभिमान को खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है, पर सदाचारी तथा सेवक नहीं रहता। सेवक से रहित जो सेवा और सदाचारी से रहित जो सदाचार है, वही वास्तव में संयम, सदाचार तथा सेवा है। संयम की पराकाष्ठा में निर्वासना, सदाचार की पराकाष्ठा में एकता और सेवा की पराकाष्ठा में अहिंसा स्वतः आ जाती है। अहिंसा, करुणा और प्रेम की एकता निर्वैरता की और निर्वासना स्वाधीनता की जननी है। स्वाधीनता, निर्वैरता, करुणा और प्रेम में ही संयम, सदाचार तथा सेवा की पूर्णता है। करुणा तथा प्रेम में अगाध–अनन्त रस में निहित है। निर्वैरता तथा स्वाधीनता में सब प्रकार के भय, भिन्नता एवं असमर्थता का अत्यन्त अभाव है।

इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव काम उत्पन्न करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है, और बुद्धिजन्य का प्रभाव जिज्ञासा जाग्रत कर कामनाओं का अन्त करने में समर्थ है। कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से बुद्धि–ज्ञान का आदर चित्त–शुद्धि का सुगम उपाय है। बुद्धि–ज्ञान का अनादर ही जाना हुआ दोष है, जिसका अन्त किये बिना सुख की आशा मिट नहीं सकती, और उसके बिना दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव नही हैं। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से ही स्वाधीनता, निर्भयता एवं अगाध–अनन्त रस की प्राप्ति हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि के लिये साधक को इन्द्रिय–ज्ञान के प्रभाव का अन्त

करने के लिये बुद्धि—ज्ञान का आदर करते हुए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। इसके लिये भविष्य की आशा करना उससे निराश होना प्रसाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

६—६—५६

१०

आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति—

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जो नित्य प्राप्त नहीं है उसमें आसक्ति होने पर और जो नित्य प्राप्त है उसमें प्रेम न होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आसक्ति उसी में होती है जो नित्य प्राप्त नहीं है, अर्थात् जो सदैव नहीं रहता। परन्तु यह आसक्ति की विलक्षणता है कि जो वस्तु नित्य प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त जैसा भासित कराती है और नित्य प्राप्त के प्रेम को—आच्छादित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जिससे देशकाल की दूरी नहीं है, वह अप्राप्त प्रतीत होता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है, वह प्राप्त जैसा प्रतीत होता है। उस प्रतीति मात्र को ही बेचारा प्राणी प्राप्ति मान लेता है। यद्यपि प्रतीति में सतत परिवर्तन है, परन्तु परिवर्तन पर दृष्टि ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रत्येक संयोग सतत वियोग में बदल रहा है, किन्तु संयोग की दासता सबल तथा स्थायी होती जा रही है। जिसका वियोग अनिवार्य है, उसके संयोग की रुचि बनाए रखना चित्त को अशुद्ध ही करना है।

आसक्ति उसी में होती है, जिसकी वास्तविक सत्ता न होने पर भी प्रतीति हो, अर्थात् जो वस्तु है नहीं, पर प्रतीत होती है, उसी में प्राणी आसक्त हो जाता है। जो है नहीं, उसकी प्रतीति का कारण

क्या है ? इस प्रश्न की उत्पत्ति जिसमें है वह स्वयं अपने को क्या मानता है ? अथवा यों कहो कि प्रश्न का उद्‌गम स्थान क्या है ? किसी भी प्रश्नकर्त्ता में उसी समय तक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, जिस समय तक वह अपने संबंध में निस्सन्देह नहीं हो जाता। जिसे अपने संबंध में ही सन्देह है, उसे किसी पर भी सन्देह हो सकता है, अथवा जो अपने को किसी मान्यता में आबद्ध कर सकता है, वह किसी में भी किसी भी मान्यता की स्थापना कर सकता है, अर्थात् जिसे अपने संबंध में सन्देह होता है, उसे ही दूसरों के संबंध में सन्देह होता है। जो अपने को कुछ मान लेता है, वही दूसरे को भी कुछ मान लेता है। इस दृष्टि से जब तक प्रश्नकर्त्ता अपने संबंध में निस्सन्देह नहीं हो जाएगा, तब तक किसी भी वास्तविकता को नहीं जान सकता। जो प्रतीत हो रहा है यदि वह है, तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ? अर्थात् उससे एकता क्यों नहीं होती ?

यह नियम है कि प्राप्ति–काल में प्रयत्न नहीं रहता, किन्तु जो प्रतीत हो रहा है उसकी ओर सतत प्रवृत्ति होती है। परिणाम में अभाव के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। यदि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती। प्रवृत्ति–जनित सुख–दुःख को ही यदि प्राप्ति मान लिया जाय, तो फिर अप्राप्ति किसे मानेंगे ? प्रवृत्ति में सुख का भास भी तब होता है, जब प्रवृत्ति की रुचि हो और परिणाम में सुख की आशा हो, अर्थात् रुचि और आशा के आधार पर प्रवृत्ति सुखद भासती है, और रुचि और आशा का जन्म प्रतीति को सत्य मान लेने से होता है। जिसकी सत्यता प्राप्ति से पूर्व स्वीकार कर ली, उसकी रुचि तथा उससे सुख की आशा उत्पन्न हो जाती है, जो प्रतीति से संबंध जोड़ देती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति में ममता हो जाती है, ममता में प्रियता उत्पन्न होती है और प्रियता आसक्ति को जन्म देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

इन्द्रियों से विषयों की, मन से इन्द्रियों की, बुद्धि से मन की और निज–ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है। जिस ज्ञान से बुद्धि की

प्रतीति होती है, क्या उस ज्ञान को बुद्धि की आवश्यकता है ? कदापि नहीं, क्योंकि जो नित्य ज्ञान है उसे बुद्धि के परिवर्तनशील ज्ञान की क्या आवश्यकता होगी?

जो बुद्धि का ज्ञाता है, क्या उसे अपनी पूर्ति के लिये शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा है ? यदि नहीं है, तो उसने बुद्धि, मन आदि से संबंध क्यों स्थापित किया ? और यदि है, तो क्यों है? क्या प्रश्नकर्त्ता स्वयं अपने को बुद्धि का ज्ञाता स्वीकार करता है ? अथवा अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मानता है ? अथवा ज्ञाता और शरीर से विलक्षण कुछ और अपने को मानता है? प्रश्नकर्त्ता को अपने संबंध में भी कोई—न—कोई निर्णय देना होगा। शरीर को मैं मान नहीं सकता और अपने को ज्ञाता मानकर शरीर से संबंध जोड़ नहीं सकता। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से संबंध जोड़े बिना प्रतीति की चर्चा कर नहीं सकता। यदि प्रतीति की चर्चा करता है, तो स्वयं प्रतीति से तद्रूप हो जाता है। जो नहीं है, उससे तद्रूप होकर उसको जान नहीं सकता, और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता, अर्थात् 'है' से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त करता है, और जो नहीं है, उससे असंग होकर उसकी वास्तविकता को जान सकता है।

अतः प्रतीति की वास्तविकता को जानने के लिये प्रतीति से असंग होना अनिवार्य है। प्रतीति से असंग होते ही प्रतीति का अभाव स्वतः हो जाता है और फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता कि न होने पर प्रतीति क्यों होती है। बुद्धि और ज्ञाता के मध्य में जो अपने आपकी स्वीकृति है, जिस स्वीकृति को अनेक मान्यताओं में आबद्ध कर लिया है, वह न प्रतीति है और न ज्ञाता, अथवा यों कहो कि स्वीकृति में सत्यता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक उसको स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अपने—अपने संबंध में जिस—जिसने जो—जो स्वीकृति विकल्प—रहित रूप से स्वीकार कर ली है, वह स्वीकृति स्वयं अपना एक अस्तित्व मान लेती है और स्वीकृति के अनुसार ही कोई—न—कोई कामना उत्पन्न हो जाती है।

कामना की पूर्ति के लिये ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से संबंध दृढ़ हो जाता है और कामना–निवृत्ति के लिये ही प्रतीति से अतीत किसी नित्य की प्राप्त सत्ता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना–पूर्ति का रोग जब तक है, तब तक प्रतीति की ओर गति है। परिणाम में भले ही अभाव हो, पर कामनापूर्ति का प्रलोभन प्रतीति की ओर गतिशील करता रहता है।

कामना–पूर्ति का प्रलोभन सर्व के ज्ञाता में हो नहीं सकता, क्योंकि जो सर्व का ज्ञाता है उसमें काम है ही नहीं, और जिन साधनों से कामना की पूर्ति होती है उन साधनों में भी कामनापूर्ति का प्रलोभन नहीं हो सकता। कामना–पूर्ति का प्रलोभन जिसमें है, वह न ज्ञाता है और न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कोई वस्तु। वस्तु से संबंध जोड़कर भले ही वस्तु–जैसा प्रतीत हो और कामना–अपूर्ति के दुःख से दुःखी होकर भले ही उसमें कामना–निवृत्ति की जिज्ञासा जाग्रत हो।

जो कामना–पूर्ति–अपूर्ति से सुखी–दुखी होता है और जिसमें कामना–निवृत्ति की जिज्ञासा होती है, उसीमें समस्त प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कामना–निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर समस्त आसक्तियां स्वतः गल जाती हैं, जिनके गलते ही, जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि मिट जाती है।

जो अपने को कामी मानता है, वही अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी भी मानता है। परन्तु जब तक कामना–पूर्ति का प्रलोभन है, तभी तक वह कामी है, और जब तक कामी है, तभी तक आसक्तियों में आबद्ध है। बेचारा आसक्त प्राणी जिस वस्तु में आसक्त हो जाता है, उसके दोष नहीं जान पाता। जिसके दोष का ज्ञान नहीं होता, उससे निवृत्ति नहीं होती। कारण आसक्ति रहते हुए दोष–युक्त वस्तुओं से संबंध बना ही रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने में देह–भाव की स्वीकृति दृढ़ होने पर ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति होने पर कामनाएँ उत्पन्न होती हैं।

कामना—पूर्ति में पराधीनता, जड़ता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और कामना—उत्पत्ति का प्रवाह चलने लगता है, जिससे कामना—अपूर्ति—काल में दुःख और पूर्ति—काल में पराधीनता की वेदना उत्पन्न होती है। जब उत्पन्न हुई वेदना सहन नहीं होती, तब साधक में कामना—निवृत्ति की लालसा उदित होती है, जो कामना—पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त कर कामना निवृत्ति के साम्राज्य में प्रवेश करा देती है, जिसके होते ही, जो अपने को कामी, अर्थात् भोगी मानता था, वही अपने को योगी मान लेता है, क्योंकि कामना निवृत्त होने पर देह से संबंध विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व मिट जाता है और फिर वह अपने को भोगी नहीं मानता।

ज्यों—ज्यों साधक कामना—पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होता जाता है, त्यों—त्यों कामना—निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आती जाती है, क्योंकि कामना—पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन कामना को उत्पन्न करती है। कामना—पूर्ति के सुखकी दासता का अत्यन्त अभाव होते ही नवीन कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती और कामना—पूर्ति के सुख की आसक्ति भी नहीं रहती, जिसके मिटते ही कामना—निवृत्ति की शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। यदि साधक कामना—निवृत्ति की शान्ति में रमण न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक शांति से अतीत जो चिन्मय, स्वाधीन साम्राज्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही योग की पूर्णता हो जाती है। योग की पूर्णता से ही ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, अथवा यों कहो कि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से कामना—निवृत्ति योग से और योग ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न कर देता है। परन्तु जो अप्राप्त है, उसमें प्राप्त—बुद्धि और जो प्राप्त है, उसमे अप्राप्त बुद्धि होने से भोग का अन्त और योग, ज्ञान तथा प्रेम से एकता हो नहीं पाती।

देह—भाव की स्वीकृति है, उससे एकता नहीं है, परन्तु स्वीकृति में ही अहम्—बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने

लगती है। उसी का परिणाम यह होता है कि जिस देहातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता है, अर्थात् जो प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिसके एकता नहीं है, उसमें आसक्ति हो गई, और जिसकी प्राप्ति है, उससे प्रेम नहीं हुआ। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे भिन्नता है, उससे अनासक्ति होनी चाहिए और जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रेम होना चाहिए परन्तु अप्राप्त को प्राप्त मान लेने से और नित्य–प्राप्त को अप्राप्त मानने से, जो होना चाहिए वह नहीं हुआ, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। जो होना चाहिए, उसके न होने का एकमात्र कारण स्वीकृति में अहमबुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से नहीं मिटाई जा सकती। अतः 'देह मैं नहीं हूँ–इतने मात्र से ही देह से संबंध–विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जायगा और नित्य–प्राप्त का प्रेम स्वतः जाग्रत होगा।

देह की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र में ही, जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है, अथवा यों कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही, जो विश्व का आधार है एवं जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति होती है। जिसके किसी अंश–मात्र में समस्त विश्व प्रतीत हो रहा है, उस अनन्त की अप्राप्ति का भास केवल विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति में ही है।

शरीर में ममता की प्राप्ति भी अपने को शरीर मानने पर ही होती है। बुद्धि द्वारा जानते हैं, मन के द्वारा विश्वास करते हैं और वाणी के द्वारा वर्णन करते हैं कि 'शरीर मेरा है।' बुद्धि, मन, वाणी भी तो शरीर ही हैं। शरीर से भिन्न वाणी, बुद्धि, आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शरीर ही हैं। तीनों शरीरों से असंग होकर किसी ने भी शरीर की ममता को नहीं जाना। इतना ही नहीं, शरीर और विश्व में विभाजन किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है, अर्थात् जिस धातु से विश्व निर्मित है, उसी धातु से शरीर भी

निर्मित है। जो विश्व का प्रकाशक तथा आधार है वही शरीर का भी प्रकाशक है। विश्व किसी और की सम्पत्ति हो और शरीर किसी और की, यह युक्ति—युक्त सिद्ध नहीं है। शरीर और विश्व किसी एक ही की वस्तु है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना, अथवा अपने को कोई वस्तु मानना, सर्वथा विवेकहीनता है। समस्त वस्तुओं की ममता से रहित हो जाने पर और सभी वस्तुओं से असंग हो जाने पर, अहम् और मम का सदा के लिये अन्त हो जाता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद स्वतः मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

अपने को देह आदि किसी—न—किसी स्वीकृति में आबद्ध कर लेने से ही समस्त प्रवृत्तियों का आरम्भ होता है। प्रवृत्ति साधन भी है आर असाधन भी। अपने को व्यक्ति मान लेने पर समाज की सेवा करना साधनरूप प्रवृत्ति है, और समाज से स्वार्थ—सिद्धि करना असाधनरूप प्रवृत्ति है। अपने को प्रेमी मानकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करना साधन, और प्रेमास्पद से कुछ भी माँगना असाधन है। समस्त आसक्तियाँ स्वार्थभाव से उत्पन्न होती हैं। सेवाभाव स्वार्थभाव का अन्त कर अनासक्ति प्रदान करता है, अथवा यों कहो कि साधन—रूप प्रवृत्ति अनासक्ति प्रदान करती है, और असाधनरूप प्रवृत्ति आसक्ति उत्पन्न करती है। अनासक्ति आसक्ति को खाकर स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही प्रेम का उदय होता है। समस्त स्वीकृतियों को अस्वीकार करने पर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही, जो है नहीं, उसकी निवृत्ति हो जाती है, और जो है, उसकी प्राप्ति हो जाती है, अथवा यों कहो कि जो है नहीं, उसकी आसक्ति मिट जाती है, और जो है, उससे प्रेम हो जाता है। आसक्ति, अनासक्ति और प्रेम, इन तीनों में भेद है। आसक्ति वस्तुओं की दासता में आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनासक्ति वस्तुओं की दासता से मुक्त कर स्वाधीनता तथा उदासीनता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनासक्ति आसक्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। परन्तु प्रेम

आसक्ति–अनासक्ति दोनों से विलक्षण है। प्रेम पूर्ति, निवृत्ति, पराधीनता तथा स्वाधीनता से परे अलौकिक–चिन्मय तत्त्व है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान–प्रदान है, जो रसरूप है। प्रवृत्ति निवृत्ति में, भोग योग में, स्वार्थ सेवा में परिवर्तित हो जाने पर आसक्ति मिट जाती है और जिसके मिटते ही, जो नित्य–प्राप्त है, उससे प्रेम स्वतः हो जाता है। प्रेम श्रम–रहित, स्वाभाविक स्वतः सिद्ध तत्त्व है।

निवृत्ति स्वाधीनता, योग सामर्थ्य और सेवा करुणा तथा उदारता प्रदान करती है। आसक्ति का अभाव तथा प्रेम का उदय हो जाने पर निवृत्ति, योग तथा सेवा तीनों में एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, सामर्थ्य, करुणा और उदारता सभी दिव्य गुण प्रेम में विलीन हो जाते हैं, क्योकि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता तथा लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। स्वीकृतियों में अहम्बुद्धि का अन्त होते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और फिर साधनरूप स्वीकृति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर प्राणी आसक्ति–रहित हो जाता है। आसक्ति–रहित होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप में, कर्तव्य के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ स्वतः होने लगती है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है। चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी प्रेम से विमुख हुआ है। अतः 'अहम्; और 'मम' का अन्त कर, चित्त शुद्ध कर, प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहिए।

७.६.५६

११

सुख–भोग की आशा का त्याग

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उससे सुख की आशा करने से उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। चित्त की अशुद्धि किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से नहीं होती, अपितु अशुद्धि तब होती है जब प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा अथवा वस्तुओं का भोग करने लगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा तथा सुख के भोग में ही चित्त की अशुद्धि निहित है।

जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं; क्या उनसे प्राणी का नित्य–सम्बन्ध है ? अथवा जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं, क्या वे स्वयं दुःखी नहीं हैं ? अथवा जिस परिस्थिति को सुखद मानते हैं, क्या उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है ? अथवा जिस अवस्था में सुख का भास होता है, क्या उसमें परिवर्तन नहीं है ? किसी भी वस्तु से नित्य–सम्बन्ध सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति दुःख से रहित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति अभाव युक्त है और प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुख की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? प्रमाद उसे नहीं कहते,

जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए को भूल जाना, अथवा उसका आदर न करना ही प्रमाद है, जो स्वयं प्राणी ने बनाया है। इस बनाए हुए दोष से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि जो वस्तुएँ उत्पत्ति विनाश–युक्त हैं, पर–प्रकाश्य हैं, उनमें सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होने लगती है, और बेचारा प्राणी उनकी दासता में आबद्ध हो गया है। वस्तुओं की दासता ने प्राणी में

लोभ जैसे भयंकर दोष की उत्पत्ति कर दी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ ही दरिद्रता का मूल है। इतना ही नहीं, लोभ से ही प्राणी जड़ता में आबद्ध हो, चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है।

व्यक्तियों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि बेचारा प्राणी संयोग की दासता और वियोग के भय में आबद्ध हो गया है। यद्धपि प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग में बदल रहा है, परन्तु सुख की आशा संयोग—काल में वियोग का दर्शन नहीं करने देती, जिससे बेचारा प्राणी मोह में आबद्ध होकर अमरत्व से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, जिन व्यक्तियों से प्राणी सुख की आशा करता है वे व्यक्ति भी स्वयं उससे सुख की आशा करने लगते हैं, अथवा यों कहो कि दो दुःखी परस्पर में एक दूसरे के मोह में आबद्ध हो जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है उसे सुखद स्वीकार करना अपूर्णता में आबद्ध हो जाना है, जिससे बेचारा प्राणी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक पूर्ण जीवन है, उससे विमुख हो जाता है।

प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही सीमित तथा परिवर्तनशील है। उससे सुख की आशा करते ही प्राणी परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि अनन्त से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति किसी से भी सुख की आशा करना, अथवा उसमें जीवन—बुद्धि स्वीकार करना, अथवा उनके आधार पर अपना महत्त्व आँकना अपने को वास्तविकता से दूर करना है और अनेक प्रकार के अभाव में आबद्ध हो जाना है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख—भोग तथा सुख की आशा में आबद्ध प्राणी का चित्त न तो स्वस्थ ही हो सकता है और न शान्त एवं शुद्ध ही। चित्त के स्वस्थ हुए बिना कभी प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। चित्त की शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना पवित्र भाव का प्रादुर्भाव

नहीं होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही हो सकता है। आवश्यक सामर्थ्य के बिना न तो स्वाधीनता ही प्राप्त होती है और न प्राणी सीमित सामर्थ्य के मिथ्या अभिमान से ही मुक्त हो पाता है। पवित्र भाव के बिना न तो कर्म में शुद्धि ही आती है और न हृदय में सरसता एवं प्रीति का ही संचार होता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करने पर उनसे ममता हो जाती है, अथवा यों कहो कि उनमें ही अहम्—बुद्धि बन जाती है, जिससे काम की उत्पत्ति होती है और काम की भूमि में ही अनेक कामनाओं का जन्म होता है, जिनकी पूर्ति के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि से सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध होते ही समस्त दोष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। यह नियम है कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों आदि से केवल मानी हुई एकता है, जातीय तथा स्वरूप की नहीं, उनसे नित्य—सम्बन्ध हो नहीं सकता। जिनसे नित्य—सम्बन्ध हो नहीं सकता, उनकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनसे सम्बन्ध स्वीकार करना केवल चित्त को अशुद्ध ही करना है। अतः वस्तुओं के सदुपयोग तथा व्यक्ति की सेवा के द्वारा उनसे सम्बन्ध—विच्छेद करना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना लोभ—मोह आदि दोषों की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

लोभ—मोह आदि दोषों का अन्त हुए बिना न तो वस्तुओं का सदुपयोग ही हो सकता है और न व्यक्तियों की सेवा ही हो सकती है। वस्तुओं के सदुपयोग के बिना प्राणी उनकी दासता से न तो मुक्त हो सकता है और न जड़ता से ही ऊपर उठ सकता है। व्यक्तियों की सेवा के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है, स्नेह की एकता के बिना पारस्परिक संघर्ष नहीं मिट सकते। संघर्षों का अन्त हुए बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति हुए बिना

चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ नहीं हो सकता।

शरीर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार समुद्र की कोई भी लहर समुद्र से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु सृष्टि से अभिन्न है, अथवा यों कहो कि शरीर और संसार में भेद और भिन्नता केवल प्रतीति–मात्र है, वास्तविक नहीं। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्वीकृति समस्त सृष्टि की स्वीकृति है और सृष्टि की स्वीकृति में ही वस्तु की स्वीकृति है। वस्तु और सृष्टि का विभाजन नहीं हो सकता। अतः वस्तु के ज्ञान में ही सृष्टि का ज्ञान निहित है। भिन्न–भिन्न वस्तुओं के गुणों में भले ही भेद हो, पर सारी सृष्टि किसी एक ही धातु से निर्मित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में किसी अनुत्पन्न तत्त्व का होना अनिवार्य है, क्योंकि उत्पत्ति किसी से होगी, बिना आधार के उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से उत्पत्ति–विनाश के ज्ञान में अनुत्पन्न तत्त्व की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। यद्यपि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमें सत्ता उसी की होती है जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है। परन्तु प्रतीति उसकी होती है जो उत्पन्न हुआ है और जो अनुत्पन्न तत्त्व है उसकी प्रतीति नहीं होती। उत्पन्न हुई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती, अपितु उसी से प्रकाशित होती है जिससे वह उत्पन्न हुई है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि का जो प्रकाशक है उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, अथवा यों कहो कि सृष्टि में सत्ता उसी की है जिससे वह प्रकाशित है, क्योंकि पर–प्रकाश्य वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना, उससे सुख की आशा करना और उसमें जीवन–बुद्धि स्वीकार करना व उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है, उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है। सेवा–भाव ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों–त्यों

स्वार्थ–भाव स्वतः मिटता जाता है। स्वार्थ–भाव का अन्त होते ही सुख–भोग तथा सुख की आशा सदा के लिए मिट जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। इस दृष्टि से छोटी–बड़ी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवा का स्वरूप है–प्राप्त सुख किसी दुःखी की भेंट कर देना, और उसके बदले में सेवक कहलाने तक की भी आशा न करना। सेवक कहलाने की लालसा भी स्वार्थ ही है। स्वार्थ–भाव के रहते हुए बड़ी से बड़ी सेवा भी सेवा नहीं है। स्वार्थ–भाव गलने पर ही सेवा सम्भव है। सेवा सुख–भोग की आसक्ति को खाकर सेवक के हृदय को करुणा तथा उदारता से भरपूर कर देती है। उदारता संग्रह को और करुणा शुष्कता एवं कटुता को खाकर सेवक को अपरिग्रही तथा द्रवीभूत बना देती है, जिसके होते ही सेवा पूजा तथा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

सेवा उसी अंश में हो सकती है, जिस अंश में सेवक सुखी है, क्योंकि सेवा सुखी का साधन है, अथवा यों कहो कि जिसका हृदय पराए दुःख से भरा रहे, वही सेवा कर सकता है, क्योंकि सेवा सुख देकर दुःख लेने का पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जाने पर प्राणी दुःखी नहीं रहता, क्योंकि पर–दुःख से दुःखी होने में जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसकी समानता किसी भी सुख–भोग से नहीं है। सुख–भोग से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, पर उस रस से चित्त शुद्ध हो जाता है।

सेवा की पूर्णता में पूजा का उदय अपने आप होता है। कारण, कि सुखासक्ति का अत्यन्त अभाव होने पर राग–द्वेष मिट जाता है, जिसके मिटते ही त्याग तथा प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग के आते ही निरभिमानता एवं समर्पण–भाव स्वतः जाग्रत होता है। निरभिमानता तथा समर्पण–भाव ही वास्तविक पूजा है। पूजा की पूर्णता में प्रेम का उदय है।

प्रेम के साम्राज्य में प्रेम तथा प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती। इतना ही नहीं, प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद भी स्वतः गल जाता है, क्योंकि प्रेम में प्रेम का ही आदान–प्रदान है। इस

कारण प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है, अथवा यों कहो कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद, इसका भास ही नहीं रहता। प्रेम क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है। निवृत्ति काम की होती है प्रेम की नहीं, पूर्ति जिज्ञासा की होती है प्रेम की नहीं, और क्षति सुख–भोग की होती है प्रेम की नहीं। प्रेम की तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। प्रेम स्वभाव से ही रसरूप है तथा अगाध और अनन्त है, इस कारण अनिर्वचनीय तत्त्व है।

सुख–भोग तथा सुख की आशा का अन्त करने के लिए प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा अनिवार्य है, क्योंकि उसका अन्त हुए बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त की शुद्धि में ही उसका स्वस्थ तथा शान्त होना भी निहित है। यदि कोई साधक अपने को सेवा करने में असमर्थ मानता है, तो उसे त्याग को अपना लेना चाहिए। त्याग के अपना लेने पर सेवा, पूजा तथा प्रेम की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना, अर्थात् चाह रहित होना, अथवा यों कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अन्त करना ही त्याग का वास्तविक स्वरूप है।

यह नियम है कि सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अर्थात् जो केवल प्रतीति मात्र है, उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उस अनन्त की प्राप्ति हो जाती है। चाह–रहित होने में निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी सर्वदा स्वाधीन है, परन्तु उसके लिए प्राणी को जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा। संसार से सच्ची निराशा, जीवन ही में मृत्यु का अनुभव है।

चाह की उत्पत्ति, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उससे सम्बन्ध जोड़ देती है और जो सर्वत्र सर्वदा ज्यों–का–त्यों है उससे दूरी उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से चाह–रहित होना परम अनिवार्य है। चाह–रहित होने के लिए, जो प्रतीति–मात्र है, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना, अपितु उसमें उसी का दर्शन करना, जिसके

प्रकाश से वह प्रकाशित है, आवश्यक है, अथवा यों कहो कि असत् का त्याग और सत् को अपना लेना ही चाह रहित होने का सुगम उपाय है। यह नियम है कि असत् के त्याग में ही सत् की प्राप्ति निहित है। असत् को असत् जान लेने पर उसके त्याग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

असत् के त्याग तथा सेवा, पूजा और प्रेम से चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

८—६—५६

१२

मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जब प्राणी अपने को जाने बिना किसी मान्यता को स्वीकार कर मिथ्या अभिमान में आबद्ध हो जाता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण, कि मिथ्याभिमान से भेद की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही काम उत्पन्न होता है। काम की भूमि में ही कामनाएँ जन्म पाती हैं, जिनकी पूर्ति—अपूर्ति के सुख—दुःख में आबद्ध होने से प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध होते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलने लगता है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के अभावों में ग्रसित होने से उसमें वर्तमान वस्तुस्थिति में सन्देह की व्यथा उदय होती है।

यदि वह व्यथा वर्तमान जीवन की वस्तु बन जाय, तो वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जाग्रत कर देती है। परन्तु यदि किसी कारण उस व्यथा में शिथिलता आ जाय, तो प्राणी इन्द्रियजन्य ज्ञान के

आधार पर काई–न–कोई काल्पनिक चित्र की स्थापना कर उसे अपने जीवन का उद्देश्य बना कर किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम बना लेता है। यदि वह कार्यक्रम सफल हो गया, तो कुछ काल जीवन के मूल प्रश्न को भूल जाता है, और परिस्थिति जन्य, परिवर्तनशील सुख में सन्तोष कर बैठता है। पर यह स्थिति उसके मूल प्रश्न को हल नहीं कर पाती, अथवा यों कहो कि मूल प्रश्न कुछ काल के लिए दब–सा जाता है, मिटता नहीं। और यदि अपनी काल्पनिक परिस्थिति को प्राप्त करने में असफल हो गया, तो भयभीत होकर मिथ्या अहंकार को जाग्रत कर परिस्थिति से संघर्ष करने लगता है; अथवा यों कहो कि काल्पनिक आशाओं में विचरने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जीवन का मूल प्रश्न था, सिका हल होना वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे कालान्तर की वस्तु मान कर उसकी ओर से उदासीन हो जाता है। और जो न तो वर्तमान में ही प्राप्त हो सकता है और न कालान्तर में ही निश्चित रूप से जिसकी प्राप्ति सम्भव है, इतना ही नहीं, यदि प्राप्त भी हो जाय, तो भी उससे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता–यह जानते हुए भी उसके लिए प्रयास करता रहता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी कार्यक्रम उसकी प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं, जो उत्पत्ति–विनाशयुक्त है, अर्थात् किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए ही कार्यक्रम बनता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति अभाव–रूप है, परिवर्तनशील है, क्योंकि जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं है वह प्राप्त होने पर भी न रहेगी। इस कारण सभी परिस्थितियों में जीवन का मूल प्रश्न ज्यों–का–त्यों रहता है। परिस्थितियों के आधार पर बेचारा प्राणी अपने को सफल–असफल मान कर सुखी–दुःखी होता रहता है।

सुख–दुःख का द्वन्द्व उसे विश्राम नहीं लेने देता, जिसके बिना न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही हो पाता है और न आवश्यक सामर्थ्य का विकास ही होता है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही

जीवन का मूल प्रश्न हल हो सकता है। पर कब ? जब परिस्थितियों में जीवन—बुद्धि न हो। परिस्थितियों में जीवन बुद्धि न रहने से प्रतिकूलता का भय तथा अनुकूलता की दासता स्वतः मिट जाती है और किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं होता। प्रतिकूलता का भय मिटते ही प्राप्त बल का सदुपयोग होने लगता है, और अनुकूलता की दासता मिटते ही प्राप्त विवेक का आदर होने लगता है। प्राप्त बल के सदुपयोग से निर्बलता मिट जाती है, अर्थात् आवश्यक बल स्वतः प्राप्त होता है और प्राप्त विवेक के आदर से दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत होती है। आवश्यक बल की प्राप्ति तथा कर्त्तव्य के ज्ञान से कर्त्तव्य—परायणता आती है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही प्राणी विद्यमान राग से रहित हो जाता है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने देती। जब विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, तब चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

परिस्थिति में जीवन—बुद्धि स्वीकार करने का एक मात्र कारण यह है कि प्राणी अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह न होने से अपने लक्ष्य के सग्मन्ध में भी सन्देह—रहित नहीं होता और लक्ष्य के सम्बन्ध में सन्देह—युक्त होने के कारण अपने साधन के सम्बन्ध में भी निस्सन्देह नहीं होता। अपने सम्बन्ध में सन्देह—रहित होने से साधन और साध्य के सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं रहता। अपने सम्बन्ध में निस्सन्देह होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी अपने को उन सभी स्वीकृतियों से मुक्त कर ले, जिसने अपने को आबद्ध कर लिया है। यदि किसी कारण प्राणी सभी मान्यताओं का अन्त करने में अपने को असमर्थ पाता हो, तो उसे अपने सम्बन्ध में किसी एक ऐसी मान्यता को विकल्प—रहित विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए, जिस मान्यता का परिवर्तन न हो, अर्थात् जो नित्य हो। सभी मान्यताओं का अन्त

करने से जिस वास्तविकता का बोध होता है, किसी एक नित्य मान्यता की स्वीकृति द्वारा भी उसी वास्तविकता से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से चाहे विचारपूर्वक सभी मान्यताओं का अन्त कर दिया जाय, अथवा विश्वासपूर्वक किसी नित्य मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय, तो प्राणी अपने सम्बन्ध में सन्देह—रहित हो सकता है।

समस्त मान्यताओं का नाश वही प्राणी करता है, जो विषयों को इन्द्रियों के, इन्द्रियों को मन के और मन को बद्धि के अधीन करने में समर्थ हो, अर्थात् जिसमें मन और बुद्धि का द्वन्द्व शेष न रहे। द्वन्द्व न रहने पर बुद्धि समता में स्थित हो जाती है, जिसके होते ही स्वतः विचार उदय होता है, जो सभी मान्यताओं को खाकर मान्यताओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देता है।

समस्त मान्यताओं का नाश होते ही निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आते ही मिथ्या अभिमान स्वतः गल जाता है। फिर किसी प्रकार का भेद शेष नहीं रहता। भेद के नाश में ही काम का अन्त है और काम का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन प्रेम से ओत—प्रोत हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। चित्त शुद्ध होने पर कामनाओं का नाश और जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

मिथ्या अभिमान से भेद और भेद से काम की उत्पत्ति होती है, जो वासनाओं की भूमि है। वासनाओं का अन्त विचार से और विचार का उदय बुद्धि के सम होने पर स्वतः होता है। बुद्धि की समता मन की निर्विकल्पता में निहित है और मन की निर्विकल्पता इन्द्रिय—ज्ञान का प्रभाव नष्ट होने पर सुरक्षित रहती है। इन्द्रिय—ज्ञान में सन्देह होने पर जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय—ज्ञान के प्रभाव को खा लेती है।

मिथ्या अभिमान के रहते हुए प्राणी अपने को भोगासक्ति में

आबद्ध कर लेता है। भोग की क्षण–भंगुरता का ज्ञान भोगासक्ति से मुक्त करने में समर्थ है, क्योंकि उस ज्ञान से ही सन्देह की व्यथा जाग्रत होती है। यदि प्राणी उस व्यथा को सुख की आशा से न दबाये, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक जिज्ञासा की जागृति भोगासक्ति का नाश कर मिथ्या अभिमान का अन्त कर देती है।

मिथ्या अभिमान में अनेक मान्यताएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु प्रत्येक मान्यता के मूल में किसी की कामना, जिज्ञासा तथा लालसा रहती है। कामना–पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा तथा लालसा को सबल तथा स्थायी नहीं होने देता, परन्तु लालसा तथा जिज्ञासा का अन्त भी नहीं होता। कामना भोग्य वस्तु की प्रियता, और जिज्ञासा निस्सन्देहता की प्रियता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भोग्य वस्तु की असारता का ज्ञान उसके भोग की आसक्ति का नाश करने में समर्थ है। भोगासक्ति का नाश भोग की प्रियता को जिज्ञासा में परिवर्तित कर देता है। जिस काल में जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति जिस अनन्त से अभिन्न करती है, प्रियता उसी अनन्त का प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी में एक स्वाभाविक प्रियता है। जब उसका सम्बन्ध देहाभिमान से होता है तब वह अनेक कामनाओं के रूप में प्रतीत होती है और जब उस प्रियता का सम्बन्ध सन्देह की वेदना से हो जाता है, तब वह जिज्ञासा का रूप धारण कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता जिसका बोध कराती है, प्रियता उसी का प्रेम है। इस दृष्टि से यदि प्राणी अपने सम्बन्ध में यह स्वीकार करे कि 'मैं केवल प्रीति हूँ' तो अनेक मान्यताएँ प्रीति में विलीन हो सकती हैं। इस मान्यता का परिवर्तन नहीं हो सकता, और न अभाव हो सकता है, अर्थात् अपने को 'प्रीति' स्वीकार करना ही वास्तविक एवं नित्य मान्यता है।

प्रीति स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा विभु है। कारण, कि प्रीति सुख की आशा को खा लेती है और नित–नूतन रस प्रदान करती है। जो प्रीति सुख की आशा से रहित है, वह दिव्य है। जो दिव्य है

वह चिन्मय है और जो चिन्मय है वह विभु है। प्रीति का उद्‌गम–स्थान अचाह में है, क्योंकि चाह रहित हुए बिना प्रीति का उदय होता ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति की भूमि बन्धन से रहित है अथवा यों कहो कि मुक्ति ही प्रीति का उद्‌गम स्थान है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी तथा भेद की नाशक है। इस कारण प्रीति देश–काल की परिधि से अतीत है। प्रीति क्षति–पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित होने से आनन्दामृत–वर्षिणी है, अथवा यों कहो कि प्रीति आनन्द को भी आनन्दित करती है। प्रीति में ही समस्त साधनों की समाप्ति है। प्रीति के बिना कभी किसी को रस की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। और उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारों का अन्त असम्भव है। प्रीति से अभिन्नता होने पर ही काम का नाश हो सकता है, अथवा यों कहो कि अपने को प्रीति स्वीकार करने पर प्राणी काम रहित हो जाता है। काम का अन्त होते ही कामनाएँ स्वतः मिट जाती हैं और फिर मिथ्याअभिमान अपने आप गल जाता है। इस दृष्टि से प्रीति और विचार दोनों ही का परिणाम एक है। विचार असत् को असत् जान कर असत् से असंगता और सत् से अभिन्नता प्रदान करता है। और प्रीति प्रीतम को रस प्रदान कर प्रीतम से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। इतना ही नहीं, प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी किसी को किसी और का अनुभव ही नहीं है।

प्रीति देहाभिमानियों में आसक्ति के रूप में भासित होती है। आसक्त प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तुओं में आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से आसक्ति भी किसी की प्रीति ही है, परन्तु अविवेक के कारण उसमें निर्मलता नहीं है। इसलिए आसक्ति त्याज्य है। परन्तु आसक्ति में जो मिठास है वह भी स्वार्थ–परायण प्रीति ही है। जिज्ञासा और तत्त्व–ज्ञान में एकता प्रदान करने में भी प्रीति का ही चमत्कार है। कारण, कि निस्सन्देहता की प्रीति ही जिज्ञासा का स्वरूप है। सभी स्तरों में जहाँ कहीं रस की निष्पत्ति है, वहाँ किसी–न–किसी रूप में प्रीति का ही चमत्कार है। परन्तु जब प्रीति अपने को सभी

काल्पनिक मान्यताओं से मुक्त कर लेती है, तब वह अपने निर्मल स्वरूप से अभिन्न हो जाती है, जिसके होते ही उस अनन्त को, जो सब प्रकार से पूर्ण है, रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि उसके प्रेम को पाकर सर्वदा नित—नूतन बनी रहती है। प्रीति का उदय होता है, पर अन्त नहीं, और न कभी पूर्ति ही होती है, क्योंकि अनन्त की प्रीति अनन्त ही है। पूर्ति—निवृत्ति न होने से नित—नूतन रस की निष्पत्ति कराने में प्रीति ही समर्थ है। प्रीति में प्रीतम से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं है।

सभी मान्यताओं से अतीत जो है, वही प्रीति का आश्रय भी है। उन दोनों में स्वरूप की एकता है। प्रीति सभी में और सभी से अतीत में निवास करती है, परन्तु किसी सीमित वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध नहीं होती। यही प्रीति और आसक्ति में भेद है। जिज्ञासा कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। पर प्रीति की कभी पूर्ति नहीं होती। यही जिज्ञासा और प्रीति में भेद है। प्रीति प्रियतम में और प्रियतम प्रीति में निवास करते हैं, और वे दोनों ही अनन्त हैं, अथवा यों कहो कि प्रीति एक में दो और दो में एकता का विलक्षण दर्शन कराती है। प्रीति की अभिन्नता सर्वदा रस रूप है। सभी मान्यताओं का अन्त होने पर और अपने को प्रीति स्वीकार करने पर मिथ्या अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

९—६—५६

१३

सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्त्व

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

व्यक्तिगत दुःख से भयभीत प्राणी सुख की दासता में आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। यद्यपि दुःख प्राकृतिक विधान है, परन्तु उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राणी का व्यक्तिगत दुःख उसे सामूहिक दुःख का बोध कराने में साधन–मात्र है। सामूहिक दुःख की अनुभूति प्राणी को सुख की दासता में आबद्ध नहीं करती, अपितु दुःख से अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत करती है। इस दृष्टि से सामूहिक दुःख की अनुभूति में प्राणी का विकास निहित है। अतः व्यक्तिगत दुःख से भयभीत न होकर उसके द्वारा सामूहिक दुःख का अनुभव करना अनिवार्य है। ऐसा करते ही व्यक्तिगत दुःख भी दुःख से अतीत के जीवन की प्राप्ति में साधन हो सकता है।

दुःख–सुख से चित्त अशुद्ध नहीं होता है। प्रत्युत दुःख के भय एवं सुख की दासता से चित्त अशुद्ध होता है। दुःख का प्रभाव जीवन में जागृति लाता है और दुःख का भय प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास करता है। सुख का सद्व्यय प्राणी को उदार बनाने में समर्थ है, और उसकी दासता जड़ता में आबद्ध करती है। दुःख का भय तथा सुख की दासता प्राणी को शक्तिहीनता तथा जड़ता में आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। दुःख के प्रभाव से प्राप्त जागृति और सुख के सद्व्यय से प्राप्त उदारता चित्त को शुद्ध कर देती है।

जागृति परिस्थितियों से असंगता प्रदान करती है। उदारता सुख–भोग की आसक्ति का अन्त करती है। असंगता से सभी

कामनाओं का नाश हो जाता है, और सुख–भोग की आसक्ति का अन्त होते ही दुःख का भय तथा सुख की लोलुपता मिट जाती है। सुख–लोलुपता तथा दुःख का भय मिटते ही स्वाधीनता तथा निर्भयता और कामनाओं का नाश होते ही निस्सन्देहता स्वतः आ जाती है। स्वाधीनता, निर्भयता एवं निस्सन्देहता में चित्त की शुद्धि निहित है।

परिस्थितिजन्य दुःख तो सुख की दासता में और विवेकजन्य दुःख सत्य की खोज में प्रवृत्त करता है, क्योंकि विवेकजन्य दुःख में संसार के स्वरूप का ज्ञान होता है, अथवा यों कहो कि संसार के स्वरूप के ज्ञान से विवेक–जनित दुःख उदित होता है। विवेक–जनित दुःख सजीव है और घटना–जनित दुःख निर्जीव है। सजीव दुःख सामर्थ्य प्रदान करता है और निर्जीव दुःख सुख–लोलुपता उत्पन्न करता है। सुख–लोलुपता उत्तरोत्तर प्राणी को शक्तिहीन बनाती है एवं जड़ता की ओर गतिशील करती है तथा सजीव दुख से प्राप्त सामर्थ्य साधक को असत् से सत् की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और जड़ता से चिन्मयता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से सजीव दुःख बड़े ही महत्त्व की वस्तु है और निर्जीव दुःख में आबद्ध रहना सर्वथा निन्दनीय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में दुःख है, पर सुख का प्रलोभन उस दुःख का भास नहीं होने देता। सुख के प्रलोभन से दबाया हुआ दुःख सर्वदा नवीन दुःख को जन्म देता रहता है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों उत्तरोत्तर परिस्थिति–जनित दुःख उत्पन्न होता रहता है। परिस्थिति–जनित दुःख से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता। जिससे बच नहीं सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः परिस्थिति–जनित दुःख में भी भयभीत न होकर सुख के प्रलोभन का त्याग करना चाहिए, जिसके होते ही परिस्थितिजनित दुःख भी सजीव हो जाएगा, जो साधन–रूप है।

दुःख को सजीव बनाने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि सजीव दुःख से ही दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की

उपलब्धि एवं असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

सामूहिक दुःख की विमुखता व्यक्तिगत दुःख से भयभीत करती है। इस कारण सामूहिक दुःख पर दृष्टि रखना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना न तो प्राणी सत्य की खोज ही कर सकता है और न असत् को असत् जान कर भी उसके त्याग में समर्थ होता है। असत् के त्याग के बिना सत् से अभिन्नता हो नहीं सकती और सामूहिक दुःख से दुःखी हुए बिना असत् के त्याग की योग्यता नहीं आती। अतः सामूहिक दुःख को अपना लेने में ही प्राणी का हित है। सामूहिक दुःख चित्त को करुणित तथा द्रवीभूत बनाता है, जिससे चित्त में अंकित सुख का राग मिट जाता है और अनुराग का उदय होता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जाता है, जिससे चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

व्यक्तिगत दुःख के भय से भयभीत प्राणी असत् को असत् जान लेने पर भी उसका त्याग नहीं करता, प्रत्युत् असत् के द्वारा सुख–सम्पादन में लगा रहता है। यद्यपि उसका परिणाम अहितकर ही सिद्ध होता है, परन्तु व्यक्तिगत दुःख का भय उसे प्रमादी बना देता है। इस भयंकर स्थिति से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य है कि असत् को असत् जान कर उसका त्याग किया जाय। असत् से सुख सम्पादन की आशा न की जाय।

असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है और उसके त्याग से ही सत् से अभिन्नता होती है। असत् के त्याग में प्राणी पराधीन नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। कारण, कि असत् स्वयं ही उसका त्याग कर देता है जो उसे अपनाना चाहता है, अर्थात् जो स्वयं अलग हो रहा है उससे सम्बन्ध–विच्छेद करना ही असत् का त्याग है।

असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता युगपद् है। अथवा यों कहो कि असत् के त्याग में ही सत् का प्रेम निहित है, क्योंकि किसी त्याग ही किसी का प्रेम होता है। त्याग अभ्यास नहीं है, अपितु श्रमरहित सहज साधन है और विवेक–सिद्ध है। इसी कारण त्याग वर्तमान में ही फल देता है। त्याग असत् से मुक्त करता है और प्रेम

सत् से अभिन्न करता है। त्याग और प्रेम दोनों ही स्वाभाविक सहज साधन हैं। त्याग और प्रेम को अपना लेने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है; अथवा यों कहो कि सुख की दासता तथा दुःख के भय से चित्त अशुद्ध होता है। इन दोनों के मूल में अविवेक ही हेतु है, क्योंकि अविवेक से ही देहाभिमान दृढ़ होता है और उससे ही अनेक प्रकार के सुख—दुःख उत्पन्न होते हैं। देहाभिमान के कारण ही आदर, अनादर, लाभ, हानि, संयोग—वियोग का सुख—दुःख होता है। यदि चित्त से लोभ, मोह की अशुद्धि निवृत्त हो जाय, तो आदर—अनादर, हानि—लाभ तथा संयोग वियोग का सुख—दुःख स्वतः मिट जाता है, क्योंकि लोभ के दोष में ही हानि—लाभ का सुख—दुःख निहित है और मोह के दोष में ही संयोग—वियोग एवं आदर—अनादर का सुख—दुःख निहित है। लोभ और मोह का दोष अपने को देह मान लेने पर उत्पन्न होता है। अपने को देह मान लेना केवल अविवेक सिद्ध है।

वियोग, हानि और अनादर का भय मिटाने पर संयोग, लाभ एवं आदर का प्रलोभन स्वतः मिट जाता है। निर्लोभता के बिना हानि का भय और निर्मोहता के बिना अनादर तथा वियोग का भय मिट नहीं सकता। अपने को देह से अलग अनुभव किए बिना निर्मोहता प्राप्त नहीं हो सकती और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने निर्लोभता आ नहीं सकती। इस दृष्टि से अपने को देह से अलग अनुभव करना और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानना अनिवार्य है, जो विवेकसिद्ध है। विवेक प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है, अथवा यों कहो कि अनन्त की देन है। इतना ही नहीं, विवेक ही आदि गुरु—तत्त्व है। उसी में कर्त्तव्य तथा लक्ष्य का ज्ञान विद्यमान है। उसके अनादर में ही चित्त अशुद्ध हो गया है। पर यह रहस्य चित्त शुद्ध होने पर ही स्पष्ट होता है। उससे पूर्व तो व्यक्तिगत दुःख का भय और सुख का प्रलोभन ही जीवन प्रतीत होता है, जो वास्तव

में अविवेक सिद्ध है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा व्यक्तियों की सेवा चित्त को शद्ध करती है और व्यक्तियों के द्वारा सुख का भोग तथा सुख की आशा चित्त को अशुद्ध करती है। यद्यपि वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो व्यक्ति भी वस्तु है। इतना ही नहीं, अपनी देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो उत्पत्ति–विनाशयुक्त तथा पर–प्रकाश्य न हो। तो फिर वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा करना और उनके अभाव से भयभीत होना, क्या, युक्ति–युक्त है ? कदापि नहीं।

वस्तुओं की निरर्थकता का ज्ञान वस्तुओं की दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देता है, क्योंकि वस्तुओं के स्वरूप को जान लेने पर वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही सभी वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर अनादर का भय और आदर की आशा मिट जाती है, क्योंकि देह–रूपी वस्तु से ममता नहीं रहती और न किसी से भिन्नता ही रहती है, अपितु स्नेह की एकता जीवन हो जाती है।

स्नेह की एकता प्राप्त होते ही सभी का आदर होने लगता है और अपने आदर की कामना शेष नहीं रहती। कामनाओं का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

आदर की कामना प्राणी में तभी तक रहती है, जब तक वह आदर के योग्य नहीं है। आदर के योग्य कब तक नहीं है ? जब तक उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर है। कारण, कि वस्तु व्यक्ति आदि की दासता में ही अनादर निहित है। आदर के योग्य वही है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही आदर मिलता है। स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव एवं सर्वात्मभाव की स्वीकृति में ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्भव है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में निर्वासना स्वतः आ जाती है,

जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

स्वार्थ–भाव के अभाव में सर्वहितकारी भाव और सर्वहितकारी भाव में निष्कामता स्वतः सिद्ध है। निष्कामता राग को अनुराग में और भोग को योग में परिणत कर देती है। योग की पूर्णता में शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है और स्वाधीनता में निस्सन्देहता अर्थात् वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है। अथवा यों कहो कि निष्कामता की भूमि में योगरूपी वृक्ष स्वतः उगता है और उस पर तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेमरस से परिपूर्ण है। तत्त्वज्ञानरूपी फल प्राप्त होने पर ही निस्सन्देहता, अमरत्व तथा अगाध–अनन्त–रस की प्राप्ति होती है, जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्राणी उससे विमुख हो गया है।

अतः व्यक्तिगत सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त कर सामूहिक दुःख को अपनाकर चित्त को शान्त, शुद्ध तथा स्वस्थ करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु मान ली जाय। यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं होती उसके लिए प्राणी उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य–परायण नहीं होता और न उसके लिए परम व्याकुलता ही जाग्रत होती है। कर्त्तव्य परायणता तथा परम व्याकुलता में ही सिद्धि निहित है। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है।

१०–६–५६

१४

क्षमा–प्रार्थना एवं क्षमा–शीलता का महत्त्व

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

की हुई भूल के आधार पर अपने में दोषी–भाव अंकित हो जाने से और अपने प्रति होने वाले अन्याय तथा अत्याचार के आधार पर दूसरों को दोषी मान लेने से चित्त में अशुद्धि आ जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेकर व्यथित हृदय से क्षमा–याचना की जाय और जिन्होंने अपने प्रति बुराई की है, उसके बिना ही माँगे स्वयं अपनी ओर से सदा के लिए क्षमा कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक चित्त की अशुद्धि मिट जाती है। परन्तु क्षमा माँगने का बल उन्हीं प्राणियों में होता है जो एक क्षण भी दोषी नहीं रहना चाहते, अपनी भूल को बड़ी ही ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं। अर्थात् जो वर्तमान में निर्दोष होना चाहते हैं, वे ही क्षमाप्रार्थी हो सकते हैं। दोष–जनित सुख में आसक्त प्राणी दुःख से बचने के लिए भले ही क्षमा की बात कहे, पर वह वास्तव में क्षमा–प्रार्थी नहीं हो सकता। कारण, कि दोष–जनित सुख की आसक्ति दोष न दोहराने का व्रत नहीं लेने देती। दुःख से बचने के लिए तो सर्व–साधारण अर्थात् बड़े–से–बड़ा अपराधी भी क्षमा माँगने लगता है। पर सच्चाई पूर्वक क्षमा वही माँग सकता है, जो दोषी होने से घोर दुःखी है। दोष का होना उतनी भूल नहीं है, जितनी भूल किए हुए दोष को स्वीकार न करना और दोष–जनित प्रवृत्ति से घोर दुःखी न होना है। यद्यपि प्रत्येक दोषी में दोष की स्वीकृति स्वतः होती है, परन्तु अनादर के भय से जानते तथा मानते हुए भी अपने से और दूसरों से उसे छिपाना चाहता है,

क्योंकि स्वभाव से प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में दोषी होकर रहने में क्षुभित होता है और क्षोभ के दुःख से बचने के लिए मिथ्या प्रयास करता है।

यह नियम है कि जो अपने को धोखा नहीं देता, वह दूसरों को धोखा दे ही नहीं सकता, अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वही दूसरों के प्रति भी करता है। इतना ही नहीं, यदि हम अपने प्रति कोई बुराई न करें, तो दूसरों की, की हुई बुराई का प्रभाव हम पर हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि प्राणी प्रथम स्वयं अपने प्रति बुराई करता है, तब दूसरों की की हुई बुराई उसे क्षुभित करती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो स्वयं बुरा हो नहीं जाता, वह दूसरों के साथ बुराई कर ही नहीं सकता, क्योंकि दोषी होने पर ही दोषयुक्त प्रवृत्ति का जन्म होता है। इस दृष्टि से प्राणी के निर्दोष होने पर ही उसके द्वारा निर्दोष प्रवृत्ति हो सकती है। दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व प्राणी अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना कर लेता है, तभी दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जैसे, अपने में लोभ तथा मोह की स्थापना करने पर ही लोभ तथा मोहयुक्त प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कर्त्ता जैसा अपने को मान लेता है, उसके अनुरूप ही कर्म होता है। किन्तु उस किए हुए कर्म का संस्कार कर्त्ता की रुचि के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार अंकित होता है, इस कारण दोषयुक्त प्रवृत्ति से दोषी—भाव की स्थापना स्वतः हो जाती है। यद्यपि किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है। यदि होती, तो कोई उसको छिपाने का प्रयास न करता। परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार किए हुए कर्म का संस्कार अंकित हो ही जाता है और उन्हीं संस्कारों के आधार पर भावी परिस्थिति का निर्माण होता है।

जब किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है, तो फिर कोई अपने अहम्भाव में दोष की स्थापना क्यों करता है ? प्राप्त—अप्राप्त वस्तुओं के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा से विवश होकर प्राणी अपने को दोषी मान लेता है, अर्थात् कामनापूर्ति के सुख का प्रलोभन उसे दोषयुक्त प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है।

यदि वह प्राणी प्राप्त विवेक से कामनापूर्ति के सुख का त्याग कर सके, तो बड़ी सुगमता से दोष—युक्त प्रवृत्ति का निरोध कर सकता है। जिसे कामनापूर्ति के सुख का भास है, उसी को दोष का भी ज्ञान है। सुख का प्रलोभन बढ़ जाने पर दोष का ज्ञान होते हुए भी उस ज्ञान का आदर नहीं कर पाता। इसी कारण अपने में दोषी—भाव की स्थापना हो जाती है, क्योंकि दोष का ज्ञान था, पर उसका अनादर किया।

यह नियम है कि जब से प्राणी दृढ़तापूर्वक प्राप्त विवेक का आदर करने लगता है, तभी से दोष—युक्त प्रवृत्तियों का जन्म नहीं होता, परन्तु भूतकाल की प्रवृत्तियों की स्मृति अंकित रहती है, उन्हीं के आधार पर वह वर्तमान में निर्दोष रहने पर भी अपने को दोषी मानता है।

यदि जीवन में निर्दोषता न होती, तो दोष का ज्ञान ही न होता, क्योंकि सर्वांश में प्राणी कभी भी दोषी नहीं होता। और यदि कोई सर्वांश में दोषी है, तो उसे दोष का ज्ञान भी नहीं है। दोष का ज्ञान उसी प्राणी को है, जो सर्वांश में दोषी नहीं है। जो सर्वांश में दोषी नहीं है, उसी को दोषी—भाव की स्वीकृति व्यथित करती है। ज्यों—ज्यों वह व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों—त्यों दोषीभाव के निवारण की रुचि जाग्रत होती जाती है। सर्वांश में निर्दोष होने की रुचि जाग्रत होते ही प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक क्षमायाचना कर सकता है और दोष को न दुहराने का व्रत लेकर अपने में निर्दोषता की स्थापना कर सकता है, जिसके करते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

दोषी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा—प्रार्थी बनाने में समर्थ है और क्षमा माँगने में की हुई भूल न दुहराने का व्रत स्वाभाविक है। की हुई भूल न दुहराने के व्रत में निर्दोषता की स्थापना अपने आप हो जाती है, क्योंकि जो भूल को दुहराता नहीं, वह अपने को सहज भाव से ही निर्दोष मान सकता है। यह नियम है कि दोष की उत्पत्ति आंशिक और निर्दोषता की अभिव्यक्ति सर्वांश में होती है। अतः निर्दोषता की स्थापना सर्वांश में ही हो सकती है, आंशिक नहीं,

अथवा यों कहो कि निर्दोष होने के लिए प्राणी को सभी दोषों का त्याग करना अनिवार्य है और यही क्षमायाचना का वास्तविक अर्थ है। किसी भी अपराध के बदले में किसी से भी क्षमा–याचना की जाए, उस क्षमा–याचना में सभी दोषों के त्याग की भावना हो, तभी वह क्षमा–याचना है। क्षमा किसी भी व्यक्ति से क्यों न माँगी जाए, वह वास्तव में समष्टि से हो जाती है, क्योंकि व्यक्ति के प्रति की हुई बुराई समाज के प्रति हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई किसी के साथ भलाई तथा बुराई करे, उसका प्रभाव सारे विश्व के साथ जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रभाव अखिल लोक–लोकान्तर तक पहुँचता है क्योंकि सब कुछ किसी एक से सत्ता पाकर एक ही में स्थित है, अर्थात् सबका प्रकाशक एक ही है, जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है, वह उसी के प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी उसी से होती है, इस कारण बड़ी ही सावधानी–पूर्वक सजग रहना चाहिए कि बुराई की उत्पत्ति ही न हो।

क्षमा–याचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे, तो लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त में ही है। व्यक्ति के रूप में उसी से क्षमा–याचना की जाती है। किन्तु क्षमा माँगने का अर्थ यह होना चाहिए कि अब जाने हुए दोषों की पुनरावृत्ति की तो कौन कहे, उत्पत्ति ही न होगी अर्थात् पूर्ण रूप से निर्दोषता को अपना लिया है, यह भावना दृढ़ बनी रहे। यही क्षमा–याचना का वास्तविक स्वरूप है।

क्षमा माँगते ही क्षमा–प्रार्थी के जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्–भाव गल जाता है और फिर की हुई भूल की स्मृति निर्जीव हो जाती है। परन्तु यदि अपने बुराई करने वालों को बिना ही माँगे क्षमा नहीं कर दिया, तो चित्त में वैर–भाव तथा प्रतिहिंसा के संस्कार अंकित रहेंगे, जो पूर्ण रूप से निर्दोषता से अभिन्नता नहीं होने देंगे। इस कारण क्षमाशील होना भी अनिवार्य है। वास्तव में क्षमा–प्रार्थी वही हो सकता है, जो क्षमाशील हो।

निर्दोषता की अभिव्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकती है, जब किसी के प्रति वैर–भाव की गन्ध तक न रहे। यह तभी सम्भव है जब किसी के प्रति भी दोषी–भाव न रहे, अर्थात् अपने प्रति होने वाली बुराई का कारण भी अपने को ही मान लिया जाय। जिन्हें दोषी मान लिया है, यदि किसी कारण उन्हें निर्दोष मानने में असमर्थता प्रतीत हो, तो उन्हें अनजान बालक की भाँति क्षमा कर दिया जाय और उनकी निर्दोषता के लिए उस अनन्त से क्षमा–प्रार्थना की जाय। कोई भी प्राणी किसी के प्रति कोई भी बुराई उस समय तक कर ही नहीं सकता, जिस समय तक वह स्वयं अपने को बुरा न बना ले। जिस बेचारे ने अपने को ही बुरा बना लिया, जिसके द्वारा यदि किसी प्रकार की अपनी क्षति हो भी गयी, तो भी वह दया का पात्र है, दण्ड का नहीं। क्षमाशील की दृष्टि से सभी अदण्डनीय है। क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमा–प्रार्थी हो सकता है। क्षमाशील प्राणी अपने तथा दूसरों में निर्दोषता की अभिव्यक्ति के लिए क्षमायाचना करता है, वही क्षमा प्रार्थी है। इस दृष्टि से क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमाप्रार्थी हो सकता है। क्षमाशीलता उस अनन्त का स्वभाव है। अतः उससे अभिन्न होने के लिए क्षमाशील होना अनिवार्य है। क्षमाशील होने में असमर्थता केवल अधिकार–लोलुपता के कारण ही प्रतीत होती है। यदि प्राणी दूसरों की अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर डाले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक क्षमाशील हो सकता है। अधिकार लोलुपता ही क्षमाशीलता का अपहरण करती है। क्षमाशीलता बल है, निर्बलता नहीं; उदारता है, संकीर्णता नहीं। क्षमाशीलता में अभिन्नता है, भिन्नता नहीं। क्षमाशील वही हो सकता है, जो सभी में अपने परम प्रेमास्पद का दर्शन करता है। जिसके जीवन में से प्रतिहिंसा की भावना का अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सभी का हित चाहता है और अपराधी से अपराधी की भी प्रसन्नता जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि पतित से पतित प्राणी में भी जिसे पवित्रता का दर्शन होता है, अर्थात् जिसमें दोष देखने की दृष्टि ही नहीं है, वही क्षमाशील हो सकता है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय से क्षुभित तथा क्रोधित न होने से क्षमाशील का बल बढ़ता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशील प्राणी को अपने प्रति होने वाले अन्याय में भी अन्याय करने वाले प्राणी का प्रेम ही प्रतीत होता है। जब उसका मन क्षुभित नहीं होता, तब वह दुःखी नहीं होता। उसके दुःखी न होने से प्रकृति में क्षोभ नहीं होता, जिससे अन्याय करने वाले का अहित नहीं होता और वह स्वतः निर्दोष हो जाता है, अथवा यों कहो कि क्षमाशीलता उसके हृदय को बदल देती है। यदि प्राणी किसी से किसी प्रकार के सुख की आशा न करे और किसी का बुरा न चाहे तो उसके जीवन में क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी वही हो सकता है, जो की हुई भूल को किसी भी प्रलोभन तथा भय से दुहराता नहीं है अपितु पूर्ण निर्दोषता ही जिसे अभीष्ट है, अथवा यों कहो कि जो अपना सर्वस्व देकर निर्दोष रहना चाहता है। निर्दोषता को सुरक्षित करने के लिए जिसे बड़ी—से—बड़ी कठिनाई सहन करने में प्रसन्नता होती है, वही सच्चा क्षमाप्रार्थी है।

क्षमा माँगने तथा क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता तथा निर्वैरता जीवन में स्वाभाविक आ जाती है। निर्दोषता आते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही भेद नष्ट हो जाता है। भेद का अन्त होते ही योग, बोध तथा प्रेम स्वतः प्राप्त होता है।

क्षमाप्रार्थी अपने प्रति न्याय करता है और क्षमाशील होकर दूसरों के प्रति प्रेम करता है। जो क्षमाप्रार्थी है वही क्षमाशील है और जो क्षमाशील है वही क्षमाप्रार्थी हो सकता है। अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति प्रेम करने से निर्वैरता आ जाती है। निर्दोषता तथा निर्वैरता का प्रादुर्भाव होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही प्रेमी और प्रेमास्पद में, जिज्ञासु और तत्त्वज्ञान में, शरीर और विश्व में तथा व्यक्ति और समाज में अभिन्नता हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी में जब निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है, तब किए हुए दोष की स्मृति स्वतः मिट जाती है और फिर उसमें पर—दोष दर्शन की दृष्टि उत्पन्न ही नहीं होती; जिससे वह स्वभाव से ही क्षमाशील हो जाता है। पर—दोष—दृष्टि का अन्त होते ही अपने में से दोष की स्वीकृति ही सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है। अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न की प्रतीति ही नहीं रहती। निर्दोषता की अभिव्यक्ति से सीमित अहम्भाव गल जाता है और पर—दोष—दर्शन की दृष्टि का अन्त होने पर भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से क्षमा माँगने तथा करने से सर्वांश में अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही बाह्य रूप से अनेक भेद प्रतीत होने पर भी जीवन स्नेह की एकता से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि भेद में अभेदता का दर्शन होता रहता है और फिर चित्त सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है। अतः क्षमा माँगने तथा करने में ही चित्त की शुद्धि निहित है।

११—६—५६

१५

अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जब प्राणी अपने से भिन्न की, अर्थात् जिससे स्वरूप की एकता नहीं है, उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वह अशुद्धि ज्यों—ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों—त्यों भिन्नता तथा अनेक प्रकार के भेद पुष्ट होते जाते हैं और चित्त में अशुद्धि दृढ़ होती जाती है। चित्त की अशुद्धि और भिन्नता तथा भेद

एक दूसरे से पोषित होते हैं। विवेक—पूर्वक भिन्नता तथा भेद का अन्त होने पर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है; जिसके होते ही भिन्नता अभिन्नता में और भेद अभेद में, अर्थात् अनेकता एकता में विलीन हो जाती है।

जिसका वियोग अनिवार्य हो, जिसमें सतत परिवर्तन हो, जिसका अदर्शन हो तथा जो उत्पत्ति—विनाशयुक्त एवं पर—प्रकाश्य हो, उसकी सत्ता स्वीकार करने से भेद तथा भिन्नता का जन्म होता है। कारण, कि उससे नित्य—योग, अभिन्नता तथा प्रेम सम्भव नहीं है। नित्य—योग के बिना चिर—शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता, अभिन्नता के बिना निर्भयता तथा निस्सन्देहता और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की प्राप्ति हो नहीं सकती। शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, निर्भरता और अगाध अनन्त रस के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है और आवश्यकता—पूर्ति के बिना अभाव का अभाव हो नहीं सकता और उसके बिना जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता सिद्ध नहीं होती। अतः उत्पत्ति—विनाशयुक्त वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार कर उसी की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए, जिसकी प्राणी को स्वाभाविक आवश्यकता है।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी प्राप्ति में लेश—मात्र भी सन्देह न हो, जिसकी सत्ता स्वतन्त्र तथा स्वयं—प्रकाश हो और जिसमें स्वाभाविक प्रेम हो। कामना उसी की होती है, जिसकी प्रतीति भले ही हो, पर प्राप्ति सम्भव न हो और जिसमें आसक्ति भले ही हो, पर प्रेम सम्भव न हो। इस दृष्टि से जिन वस्तु, व्यक्ति आदि की कामना है, उनकी सत्ता स्वीकार करना भूल है। कामना—पूर्ति—जनित सुख के प्रलोभन में आबद्ध होकर कामना—अपूर्ति के भयंकर दुःख को भोगने के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जब प्राणी इस रहस्य को जान लेता है, तब वस्तुओं की प्रतीति होने पर भी उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, अथवा यों कहो कि प्राप्त वस्तुओं से भी ममता—रहित होकर उनसे विमुख हो जाता है। वस्तुओं की प्राप्ति वस्तुओं से तादात्म्य

स्वीकार करने पर भासती है। वस्तुओं से विमुख होने पर न तो उनकी प्रतीति ही होती है, न प्राप्ति ही भासती है। कारण, कि वस्तुओं से अतीत के जीवन में जड़ता का लेश नहीं है, अपितु चिन्मय साम्राज्य है, जिसमें भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं है और जो असीम तथा अनन्त है। उसी की सत्ता से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। वही जिज्ञासुओं का तत्त्वज्ञान, प्रेमियों का प्रेमास्पद, सेवकों का सेव्य एवं तत्त्व–वेत्ताओं का निज–स्वरूप हैं। उसी में पुरुषार्थवादियों के पुरुषार्थ की, प्रेमियों के प्रेम की, विवेकियों के विवेक की तथा योगियों के योग की पूर्णता सिद्ध होती है।

आवश्यकता की पूर्ति में कामनाओं की उत्पत्ति ही विघ्न है और कामनाओं की उत्पत्ति वस्तुओं से ममता तथा उनमें अहम् बुद्धि की स्थापना ही हेतु है। आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है और कामनाओं की पूर्ति सदैव प्राणी को भविष्य की आशा में आबद्ध करती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामनापूर्ति का सुख नवीन कामनाओं को जन्म देता है। परिणाम यह होता है कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी वस्तुस्थिति ज्यों–की–त्यों अभावरूप ही रहती है। उस अभाव की वेदना जाग्रत होने पर प्राणी कामना–पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर कामना–निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। कामना–पूर्ति का महत्त्व मिटते ही कामना–निवृत्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। कामना–पूर्ति श्रम साध्य है, स्वाभाविक नहीं। उसके लिये किसी–न–किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रतिकूल परिस्थिति में कामना–पूर्ति सम्भव नहीं है। अथवा यों कहो कि कामना–पूर्ति के लिए प्राणी को पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ती है, क्योंकि बाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि के सहयोग के बिना कामना–पूर्ति सम्भव ही नहीं है। किन्तु कामना–निवृत्ति श्रम रहित है, स्वाभाविक है, उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। अथवा यों कहो कि जिसे स्वाधीनता में ही प्रियता है, वह बड़ी ही सुगमता पूर्वक कामनाओं का अन्त कर सकता है। प्राकृतिक नियम के

अनुसार स्वाधीनता की प्रियता, पराधीनता की सुदृढ़ शृंखला को स्वतः तोड़ देती है। इतना ही नहीं, पराधीनता ने जिन आसक्तियों को उत्पन्न कर दिया था, स्वाधीनता की प्रियता का उदय होते ही वे स्वतः गल जाती है, जिसके गलते ही काम का अन्त हो जाता है और स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति, अर्थात् अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

यह नियम है कि प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उसका अस्तित्व भासने लगता है। जिसका अस्तित्व भासने लगता है, उस पर विश्वास होने लगता है। जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। जिसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति होने लगती है, उसमें आसक्ति हो जाती है। और जिसमें आसक्ति हो जाती हैं, उसमें सत्यता, सुख–रूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती है और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है। इस कारण जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसके अतिरिक्त किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वस्तु आदि की स्वीकृति से ही प्राणी इनमें आसक्त और उनके अधीन हो गया है, अथवा यों कहो कि प्राणी अपनी स्वीकृति में आप बँध गया है।

स्वीकृति का बन्धन अस्वीकृति से ही मिट सकता है। उसके लिए किसी अभ्यास–विशेष की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई अस्वीकृति–मात्र को ही अभ्यास मान ले, तो इसी अभ्यास की अपेक्षा है, किसी और की नहीं। अस्वीकृति के लिए केवल वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान अपेक्षित है, किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिसमें निहित है, वह ज्ञान प्राणी को स्वतः प्राप्त है। अतः प्राप्त विवेक के आदर–मात्र से ही वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान में ही वस्तुओं की अस्वीकृति निहित है जो चित्तशद्धि में हेतु है। स्वाभाविक आवश्यकता उसी की है, जिसके बिना प्राणी किसी

प्रकार नहीं रह सकता। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता, उसकी नित्य प्राप्ति होनी चाहिए और उससे देशकाल की दूरी भी नहीं हो सकती, अर्थात् वह सर्वत्र–सर्वदा है। परन्तु उससे भिन्न की सत्ता स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि जो नित्य प्राप्त है, वह अप्राप्त–सा प्रतीत होता है और जो अप्राप्त है, वह प्राप्त प्रतीत होता है, अथवा यों कहो कि प्राप्त में अप्राप्त–बुद्धि और अप्राप्त में प्राप्त–बुद्धि हो गई है, जो चित्त की अशुद्धि है।

स्वीकृतिमात्र से जो अनेकता प्रतीत हो रही है, वह अस्वीकृति–मात्र से मिट सकती है, जिसके मिटते ही अनेकता में एकता का दर्शन होता है। ज्यों–ज्यों एकता की प्रियता सबल तथा स्थायी होती है, त्यों–त्यों अनेकता की प्रतीति स्वतः गलती जाती है और चित्त शुद्ध हो जाता है। अनेकता की प्रतीति का अस्तित्व मिटते ही चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है और फिर किसी प्रकार का प्रलोभन, भय, भिन्नता तथा भेद शेष नहीं रहता और फिर स्वाभाविक प्रीति का उदय होता है। जिसके होते ही प्रेमी को प्रेमास्पद से जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और योगी को योग से भिन्न की सत्ता ही नहीं भासती। अथवा यों कहो कि जो प्रेमी का प्रेमास्पद है, वही जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान है और योगी का योग है, अर्थात् उस एक ही में प्राणी अपनी–अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी में विवेक–शक्ति, भाव–शक्ति और श्रम–शक्ति है।

विवेक, भाव और क्रिया–तीनों के द्वारा किसी एक ही की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनों प्रेम में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम भिन्नता तथा भेद का नाशक है और रस का उत्पादक है, जिसकी सभी को स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः अनेकता की अस्वीकृति से प्रेम को प्राप्त कर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को स्वीकार करने पर यदि संकल्पों की उत्पत्ति प्रतीत हो, तो उनके उद्‌गम की खोज करना चाहिए।

खोज करते ही यह स्पष्ट विदित होगा कि वस्तुओं में अहम् बुद्धि स्वीकार करना ही संकल्पों का उद्‌गम है। उस उद्‌गम का अन्त, अर्थात् वस्तु में से अहम्‌बुद्धि का त्याग करने पर वे सभी अपने आप मिट जाएँगे, जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं तथा जिनकी पूर्ति में किसी का अहित है, अर्थात् अशुद्ध और अनावश्यक संकल्प निवृत्त हो जाएँगे और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प कर्त्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित स्वतः पूरे हो जाएँगे और निर्विकल्पता अपने आप आ जाएगी, जिसके आते ही शान्ति का उदय होगा, जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता की अस्वीकृति और देहरूपी वस्तु में से अहम्‌बुद्धि का त्याग हो जाने पर जो संकल्प प्रतीत होते हैं, वे केवल भुने हुए दानों के समान हैं। उनके आधार पर काम की उत्पत्ति नहीं होती है। उस पर भी यदि संकल्प–उत्पत्ति प्रतीत होती हो, तो उनका सम्बन्ध जिन वस्तुओं से है, उन वस्तुओं की सत्यता स्वीकार नहीं करनी चाहिए, अपितु उन वस्तुओं में तत्त्व रूप से अपने प्रेमास्पद का ही दर्शन करना चाहिए। संकल्प और वस्तु की सत्यता का अभाव होते ही प्रेमास्पद से भिन्न की प्रतीति ही न होगी, अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद की नित–नव लीला ही का दर्शन होगा। ज्यों–ज्यों प्रेम सबल होता जाएगा, त्यों–त्यों प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम में परिणत होता जाएगा और फिर प्रेम और प्रेमास्पद ही की सत्ता रह जाएगी, अर्थात् प्रेम में प्रेमास्पद और प्रेमास्पद में प्रेम–ही–प्रेम रह जाएगा, क्योंकि प्रेमी ओर प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान–प्रदान है।

जिज्ञासु जिसकी उसे जिज्ञासा है उससे, सेवक अपने सेव्य से और प्रेमी अपने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार न करे, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त शुद्ध होते ही जिज्ञासु जिज्ञासा, सेवक सेवा और प्रेमी प्रेम होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है, जो सभी का सब कुछ है, जिससे सभी को सत्ता मिलती है, अथवा यों कहो कि जो अपनी महिमा में आप स्थित है

उसका योग ही वास्तविक योग, उसका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान और उसका प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। उससे भिन्न का योग भोग है, योग नहीं। उससे भिन्न का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है उससे भिन्न का प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। जो वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम नहीं है, उससे मोह–आसक्ति तथा अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः अपने से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध कर वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त कर कृत–कृत्य हो जाने में ही जीवन की पूर्णता सिद्ध है।

१२–६–५६

१६

व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है, पर दृष्टियाँ अनेक हैं। व्यक्ति जिस दृष्टि से दृश्य को देखता है, उसके अनुसार उस पर प्रभाव पड़ता है। इन्द्रिय–दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इसके प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रिय–दृष्टि से दृश्य में सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकता का भास होता है, अथवा यों कहो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–विषयों में रुचि उत्पन्न होती है, जिससे इन्द्रियाँ विषयों के, मन इन्द्रियों के और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन होते ही वस्तुओं में जीवन–बुद्धि हो जाती है, जिसके होते ही प्राणी सुख–लोलुपता जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के द्वन्द्व में आबद्ध होकर सुखी–दुःखी होने लगता है। ऐसा कोई

संकल्प—पूर्ति का सुख है ही नहीं, जिसके आदि और अन्त में दुःख का दर्शन न हो। इतना ही नहीं, सुख—काल में भी सुख में स्थिरता नहीं रहती। जिस प्रकार तीव्र भूख लगने पर प्रथम ग्रास में जितना सुख भासता है, उतना दूसरे में नहीं, अर्थात् प्रत्येक ग्रास में क्रमशः सुख की क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रास में सुख नहीं रहता, केवल भोग की क्रिया—जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन संकल्पों को उत्पन्न करती है। और प्राणी पुनः स्थिति में आ जाता है, जिसमें संकल्प—पूर्ति के सुख से पूर्व था, अर्थात् संकल्प—उत्पत्ति का दुःख ज्यों का त्यों भासने लगता है। उसी प्रकार प्रत्येक भोग—प्रवृत्ति का परिणाम होता है।

भोग—प्रवृत्ति के इस दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इन्द्रिय—दृष्टि पर सन्देह होता है। इसके होते ही बुद्धि—दृष्टि का आदर होने लगता है। ज्यों—ज्यों बुद्धि—दृष्टि का आदर बढ़ने लगता है, त्यों—त्यों इन्द्रिय—दृष्टि का प्रभाव मिटने लगता है। सर्वांश में इन्द्रिय—दृष्टि का प्रभाव मिट जाने पर अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे, जिस शरीर में सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल—मूत्र की थैली तथा अनेक व्याधियों का घर प्रमाणित होता है। बुद्धि—दृष्टि के स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओं से संबंध—विच्छेद करने की रुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन तथा क्षण भंगुरता का दर्शन स्पष्ट होने लगता है। अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रिय—दृष्टि से जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नहीं मालूम होता, अपितु वह अनेक वस्तुओं का समूह प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, बुद्धि—दृष्टि से अनेकता में एकता और व्यक्त में अव्यक्त प्रतीत होता है। इस कारण वस्तुओं की आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो सभी कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। बुद्धि—दृष्टि से राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है।

फिर विवेक—दृष्टि उदय होती है जो काम का अन्त कर प्राणी

को चिर–शांति तथा स्वाधीनता एवं चिन्मयता की ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जाग्रत होती है, जो भेद तथा दूरी का अन्त कर अपने ही में सन्तुष्ट कर देती है। अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में प्रीति की दृष्टि का उदय होना स्वाभाविक है। प्रीति की दृष्टि समस्त दृष्टियों में एकता का बोध कराती है, क्योंकि प्रीति से सभी अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति स्वभाव से ही सर्वत्र–सर्वदा अपने प्रेमास्पद को ही पाती है। कारण, कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी अन्य को कभी देखा ही नहीं। प्रीति की दृष्टि रसरूप होने से प्रेमास्पद में नितनूतनता का बोध कराती है। प्रीति पूर्णरूप से प्रीतम को देख ही नहीं पाती, क्योंकि प्रीति और प्रीतम दोनों ही अनन्त, दिव्य तथा चिन्मय हैं।

प्रीति के साम्राज्य में जड़ता का लेश नहीं है। प्रीति पूर्ति–निवृत्ति से रहित होने से मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन का रस प्रदान करती है। अर्थात् प्रीति की दृष्टि से मिलन और वियोग दोनों ही रसरूप हैं। प्रीति स्वरूप से ही रसरूप है। उसमें अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं है, इसी कारण अखण्ड तथा अनन्त है। प्रीति एक में दो और दो में एक का दर्शन कराती है, अथवा यों कहो कि एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नता की तो गन्ध ही नहीं है। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और प्रीति में ही प्रीतम का निवास है। चिन्मय साम्राज्य में प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार है, अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान–प्रदान है।

इन्द्रिय और बुद्धि–दृष्टि का द्वन्द्व जब तक रहता है, तब तक चित्त में अशुद्धि रहती है। ये दोनों दृष्टियाँ प्रतीति के क्षेत्र में ही कार्य करती हैं। बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव वस्तुओं की स्थिति का अन्त कर उनसे अतीत के जीवन की लालसा जाग्रत करता है। इन्द्रिय दृष्टि ने जिन वस्तुओं की स्थिति स्वीकार की थी, बुद्धि–दृष्टि उस स्थिति को वस्तुओं के उत्पत्ति–विनाश का क्रम–मात्र मानती है और कुछ नहीं। अर्थात् वस्तु की स्थिरता बुद्धि–दृष्टि स्वीकार नहीं

करती। उसका परिणाम यह होता है कि दृश्य से विमुखता हो जाती है और विवेक–दृष्टि उदय होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योंकि अशुद्धि अविवेक–सिद्ध है।

इन्द्रिय–दृष्टि भोग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि–दृष्टि भोगों से अरुचि उत्पन्न करती है और विवेक–दृष्टि भोग–वासनाओं का अन्त कर जड़–चिद्–ग्रन्थि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर कृत–कृत्य हो जाती है, अर्थात् 'पर' और 'स्व' का भेद गल जाता है। अन्तर्दृष्टि श्रम–रहित स्वाभाविक है, गति और स्थिरता दोनों से विलक्षण है। वह सब प्रकार के अभिमान का अन्त कर देती है। विवेक–दृष्टि ने जिस चिन्मय राज्य में प्रवेश कराया था, अन्तर्दृष्टि उसी में सन्तुष्ट कर कृत–कृत्य कर देती है।

इन्द्रिय–दृष्टि पर बुद्धि–दृष्टि शासन करती है और बुद्धि–दृष्टि को विवेक–दृष्टि प्रकाश देती है और अन्तर्दृष्टि विवेक–दृष्टि को पुष्ट करती है। जब बुद्धि–दृष्टि इन्द्रिय–दृष्टि के उत्पन्न किये हुए राग का नाश कर देती है, तब अकर्त्तव्य कर्त्तव्य में बदल जाता है। अर्थात् स्वार्थ–भाव सेवा–भाव में विलीन हो जाता है, जो रागरहित प्रवृत्ति में हेतु है। राग–रहित प्रवृत्ति बाह्य जीवन में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है, जिससे परस्पर में कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता सुरक्षित रहती है, जिससे वैर–भाव की गन्ध भी नहीं रहती। वैर–भाव का अन्त होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय–दृष्टि का प्रभाव भले ही असाधनरूप हो, क्योंकि वह राग का पोषक है, परन्तु बुद्धि–दृष्टि के नेतृत्व में इन्द्रिय–दृष्टि का उपयोग साधन रूप है। कारण, कि बुद्धि–दृष्टि भाव में पवित्रता उत्पन्न कर कर्म को शुद्ध कर देती है। कर्म की शुद्धि में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है, जिससे पारस्परिक संघर्ष शेष नहीं रहता। क्योंकि कर्म की शुद्धि किसी के अधिकार का अपहरण नहीं करती, प्रत्युत रक्षा करती है। जो किसी के अधिकार का अपहरण

नहीं करता, उसमें अधिकार–लोलुपता शेष नहीं रहती, क्योंकि अधिकार–लोलुपता उसी में निवास करती है, जो दूसरों के अधिकार का अपहरण करता है। जिसने दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य स्वीकार किया है, उसकी दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य पर नहीं जाती। कारण, कि कर्त्तव्य–परायणता में जो विकास है, वह अधिकार माँगने में नहीं है।

अधिकार–लालसा तो उन्हीं प्राणियों में निवास करती है, जिन्होंने बुद्धि–दृष्टि का आदर नहीं किया। बुद्धि–दृष्टि प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर विवेक–दृष्टि में प्रतिष्ठित कर जड़ता से विमुख कर देती है। जड़ता की विमुखता में विषमता नहीं है, अर्थात् समता है, जो वास्तव में योग है। योग में इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन की निर्विकल्पता में विलीन हो जाती हैं, जिसके होते ही निर्विकल्प–स्थिति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही अनेकता एकता से और विषमता समता से अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि एकता अनेकता को और समता विषमता को खा लेती है और फिर विवेक का प्रकाश पूर्ण रूप से उदय होता है, जो निर्विकल्प–स्थिति से असंग कर काम का अन्त कर देता है। काम का नाश होते ही भोक्ता, भोग्य–वस्तु और भोगने के साधन–ये तीनों ही गल कर जो सर्व का द्रष्टा है, उसमें विलीन हो जाते हैं और फिर अन्तर्दृष्टि स्वतः जाग्रत होती है जो त्रिपुटी का अत्यन्त अभाव कर देती है।

अन्तर्दृष्टि में पूर्ण स्वाधीनता है और अप्रयत्न ही प्रयत्न है, जिससे अखण्ड, एक रस, नित्य–जीवन से अभिन्नता होती है। नित्य–जीवन से ही सभी को सत्ता मिलती है, क्योंकि नित्यजीवन के अतिरिक्त और किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। नित्य–जीवन की प्राप्ति में प्रेम स्वतः–सिद्ध है। क्योंकि अनित्य जीवन में जो आसक्ति के रूप में प्रतीत होती थी, वही नित्य–जीवन में प्रीति के स्वरूप में बदल जाती है। नित्य–जीवन जिसका स्वरूप है, प्रीति उसी का स्वभाव है। स्वरूप से स्वभाव और स्वभाव से स्वरूप भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य की किरणें और प्रकाश सूर्य से अभिन्न

हैं, उसी प्रकार नित्य–जीवन के स्वरूप और स्वभाव में अभिन्नता है। प्रीति की दृष्टि अन्तर और बाह्य भेद की नाशक है और उसका प्रभाव समस्त दृष्टियों में ओत–प्रोत है। ज्यों–ज्यों प्रीति की दृष्टि सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों सभी दृष्टियाँ गलकर प्रीति से अभिन्न होती जाती हैं और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

इन्द्रिय–दृष्टि की सत्यता मिटते ही बुद्धि–दृष्टि सबल हो जाती है। बुद्धि–दृष्टि का पूर्ण उपयोग होते ही विवेक–दृष्टि स्पष्ट प्रकाशित होती है, जो अन्तर्दृष्टि को जाग्रत कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता में ही प्रीति की दृष्टि निहित है, जो सभी दृष्टियों के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिये शुद्ध, शांत तथा स्वस्थ कर देती है।

सर्व का द्रष्टा एक है। समस्त दृष्टियाँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी की सत्ता से सत्ता पाती हैं। किसी भी दृष्टि की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अथवा यों कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्व के द्रष्टा में ही विलीन होकर उससे अभिन्न हो जाती हैं और अन्त में प्रीति की दृष्टि ही सर्व के द्रष्टा को रस प्रदान कर उसे आह्लादित करती है। प्रीति की दृष्टि में ही सभी दृष्टियों का समावेश है। वही दृष्टि विश्व–प्रेम तथा आत्म–रति के रूप में अभिव्यक्त होती है।

प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी में आबद्ध नहीं रहती, अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त में ही समाहित हो जाती है और सभी को रस प्रदान करती रहती है। प्रीति की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है। वह आदि और अन्त से रहित, देश–काल, वस्तु आदि की सीमा का अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपों में अपने प्रेमास्पद को ही पाकर कृत–कृत्य होती है। अतः इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी दृष्टियों को प्रीति की दृष्टि में विलीन करना अनिवार्य है, जो चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है। क्योंकि जब इन्द्रिय–दृष्टि बुद्धि–दृष्टि में और बुद्धि–दृष्टि विवेक–दृष्टि में विलीन

हो जाती है, तब चित्त शुद्ध हो जाता है, और अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है। इस प्रकार चित्त की शुद्धि में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

१३.६.५६

१७

रुचि—अरुचि के द्वन्द्व का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

रुचि—अरुचि के द्वन्द्व में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से बन्धन और द्वेष से भेद की दृढ़ता होती है। बन्धन से जड़ता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा संघर्ष का जन्म होता है। जड़ता से अपने में देह—भाव की दृढ़ता, पराधीनता से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास अर्थात् हृदय—दौर्बल्य और संघर्ष से हिंसा आदि विकारों की उत्पत्ति होती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह, अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि, अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। रुचि—पूर्ति का प्रलोभन देह में अहम्बुद्धि दृढ़ करता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने को कर्म, चिन्तन और स्थिति में आबद्ध कर भोक्ता हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी भोग की सिद्धि प्रमाद तथा हिंसा के बिना सम्भव नहीं है। कारण, कि प्राप्त विवेक का अनादर किए बिना कोई भी प्राणी देह से तद्रूप नहीं हो सकता और उसके बिना अपने को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में आबद्ध नहीं कर सकता, अर्थात् "मैं भोक्ता हूँ"—यह स्वीकृति दृढ़ नहीं हो सकती। "मैं भोक्ता हूँ"—इस स्वीकृति के बिना भोग—वासनाओं की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती और भोग

वासनाओं की उत्पत्ति हुए बिना भोग्य वस्तुओं से सम्बन्ध तथा उनमें आसक्ति सम्भव नहीं है। भोग—प्रवृत्ति से भोग्य वस्तुओं का विनाश तो स्वाभाविक ही है। अतः स्पष्टतः विदित होता है कि प्रमाद तथा हिंसा के बिना भोग की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अपने को भोक्ता स्वीकार करना प्रमाद है और भोग्य वस्तुओं के विनाश में हिंसा है। हिंसा और प्रमाद से चित्त अशुद्ध होता है।

देहाभिमान प्राणी को शुभाशुभ कर्म, सार्थक—निरर्थक चिन्तन एवं सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति में आबद्ध करता है। एह नियम है कि किसी भी अवस्था में आबद्ध होने से रुचि—अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है। शुभाशुभ कर्म प्राणी को स्थूल शरीर में, सार्थक—निरर्थक चिन्तन सूक्ष्म शरीर में और सविकल्प—निर्विकल्प स्थिति कारण शरीर में आबद्ध करती है। कर्म की अपेक्षा चिन्तन में और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति में अधिक स्वाधीनता एवं व्यापकता है। तीनों अवस्थाओं का भोक्ता एक है। स्थूल शरीर में आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है। निरर्थक—चिन्तन प्राप्त वस्तु में ममता और अप्राप्त में आसक्ति उत्पन्न करता है और सार्थक चिन्तन निरर्थक चिन्तन को खाकर अचिन्तता प्रदान करता है। सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति सीमित अहम्—भाव को जीवित रखती है और शान्ति में रमण कराती है।

सीमित अहम्—भाव के रहते हुए न तो भेद का ही नाश होता है, न प्रेम का ही उदय होता है और न शान्ति से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। भेद का नाश हुए बिना काम का नाश नहीं होता और काम का नाश हुए बिना भोक्तृत्व का अन्त नहीं होता, उसका अन्त हुए बिना बेचारा प्राणी कभी क्रिया, कभी चिन्तन और कभी स्थिति के क्षेत्र में रमण करता है। क्रिया के क्षेत्र में पराधीनता तथा श्रम की अधिकता है। उससे श्रमित तथा क्षुभित होकर प्राणी चिन्तन के क्षेत्र में रमण करने लगता है। किन्तु स्थिति की अपेक्षा चिन्तन में भी अधिक श्रम है। अतः चिन्तन से श्रमित होकर स्थिति के क्षेत्र में विश्राम लेता है। परन्तु क्रिया और चिन्तन—जनित राग के बने रहने

के कारण स्थिति के क्षेत्र से भी उपराम होता है ओर फिर क्रिया तथा चिन्तन के क्षेत्र में रमण करता हुआ स्थिति में विश्राम लेता है। यह क्रम उस समय तक चलता ही रहता है, जब तक सीमित अहम्—भाव गल न जाय, अथवा यों कहो कि काम का अन्त न हो जाय।

काम का अन्त हुए बिना कामनाओं का नाश नहीं हो सकता और कामनाओं का नाश हुए बिना जिज्ञासा की पूर्ति सम्भव नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ति के बिना निस्सन्देहता की प्राप्ति नहीं हो सकती। सन्देह रहते हुए कभी—भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

सन्देह सदैव "यह" और "मैं" के सम्बन्ध में होता है, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, उसके सम्बन्ध में सन्देह नहीं होता, विश्वास अथवा अविश्वास होता है। सन्देह और अविश्वास में भेद है। सन्देह में किसी—न—किसी प्रकार की जानकारी होती है। विश्वास और अविश्वास में केवल मान्यता होती है। अविश्वास अथवा विश्वास निर्णयात्मक होता है। पर सन्देह निर्णयात्मक नहीं होता। "यह" अर्थात् जो प्रतीत हो रहा है, "मैं अथवा जिसकी स्वीकृति है अथवा जिसका भास होता है। प्रतीति में सन्देह का कारण है उसके सतत परिवर्तन का ज्ञान। स्वीकृति भी परिस्थिति तथा अवस्था भेद से बदल जाती है। इस कारण "मैं" के सम्बन्ध में भी सन्देह होता है। सन्देह जिज्ञासा की भूमि है। जिज्ञासा की जागृति प्रतीति से सम्बन्ध—विच्छेद कराती है और स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा देती है। प्रतीति से सम्बन्ध—विच्छेद होते ही ममता नष्ट हो जाती है और स्वीकृति को अस्वीकार करते ही अहम् का नाश हो जाता है। अहम् और मम का नाश होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही क्रिया, चिन्तन और स्थिति से अनासक्ति स्वतः हो जाती है, जो चित्त को शुद्ध कर देती है।

क्रिया—जनित सुख से अरुचि होते ही सार्थक—चिन्तन स्वतः जाग्रत होता है। यह नियम है कि ज्यों—ज्यों सार्थक—चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों—त्यों सीमित अहम्—भाव निर्जीव

होता जाता है। ज्यों–ज्यों सीमित अहम्–भाव निर्जीव होता जाता है, त्यों–त्यों निर्विकल्पता स्वतः आती जाती है। निर्विकल्पता के स्थायी होते ही शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है, जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

क्रिया–जनित सुख–लोलुपता से ही निरर्थक–चिन्तन उत्पन्न होता है और स्थिति भंग हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध करती है, क्योंकि क्रिया–जनित सुख–लोलुपता चेतना से जड़ता की ओर गतिशील करती है, जिससे अहम् और मम पुष्ट होता है। अतः क्रिया–जनित सुख–लोलुपता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थ–भाव को सेवा–भाव में परिवर्तित कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सार्थक–चिन्तन और सार्थक–चिन्तन द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त की जाए, जो विकास का मूल है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति क्रिया को चिन्तन में और चिन्तन को स्थिति में विलीन करती है और स्वार्थ–भाव से उत्पन्न प्रवृत्ति स्थिति से चिन्तन की ओर और चिन्तन से क्रिया की ओर गतिशील करती है। क्रिया से स्थिति की ओर गतिशील होने में प्राणी जड़ता से चेतना की ओर जाता है और स्थिति से क्रिया की ओर गतिशील होने से चेतना से जड़ता की ओर गतिशील होता है। इस दृष्टि से क्रिया से स्थिति की ओर, अर्थात् जड़ता से चेतना की ओर जाना चित्त को शुद्ध करना है और स्थिति से क्रिया की ओर, अर्थात् चेतना से जड़ता की ओर जाना चित्त को अशुद्ध करना है। क्योंकि वस्तु, अथवा परिस्थिति आदि में आबद्ध होना जड़ता में आबद्ध होना है और अनन्त, नित्य, चिन्मय–जीवन से विमुख होना है। इस कारण किसी भी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान नहीं करना चाहिए। अपितु प्राप्त वस्तु अवस्था आदि से विमुख होकर चिन्मय–जीवन की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक प्रवृत्ति सार्थक–चिन्तन में और सार्थक–चिन्तन अचिन्तता, अर्थात् निर्विकल्पता में विलीन हो जाए। अर्थात् श्रमरहित स्थिति स्वतः प्राप्त हो जाए, परन्तु उसमें भी रमण

न हो। तभी चिन्मय जीवन में प्रवेश हो सकता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में प्राणी का हित है। पर कब ? जब परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि न हो; प्रत्युत् प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग कर्तव्यबुद्धि से अथवा उस अनन्त के नाते, उन्हीं की प्रसन्नतार्थ अभिनय–रूप में किया जाय। ऐसा करने से होने वाली प्रवृत्तियों का रागअंकित न होगा और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही अनुराग अथवा तीव्र जिज्ञासा तथा शान्ति का उदय होगा, जिससे बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न हो सकता है।

समस्त परिस्थितियों से अतीत के जीवन को प्राप्त किए बिना रुचि–अरुचि का द्वन्द्व चलता ही रहता है, अर्थात् प्राणी का चित्त राग और द्वेषसे विक्षिप्त ही रहता है। अतः रुचि–अरुचि का द्वन्द्व समाप्त करने के लिए या तो ऐसी रुचि जाग्रत हो जाय जिसकी पूर्ति या अपूर्ति क्षोभ उत्पन्न न करे, अथवा यों कहो कि नवीन रुचि को जन्म न दे या सभी रुचियों का अन्त हो जाय। इन दोनों अवस्थाओं में बड़ी ही सुगमतापूर्वक रुचि–अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है। ऐसी रुचि जो कभी अरुचि में न बदले प्रीति ही हो सकती है, क्योंकि प्रीति पूर्ति–अपूर्ति से विलक्षण है, रसरूप है और रसरूप होने के कारण काम की नाशक है। जो काम की नाशक है, उसी से रुचि–अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है।

ऐसी अरुचि, जिससे किसी रुचि का जन्म न हो, असंगता ही हो सकती है। क्योंकि असंगता से भी निर्वासना आ जाती है, जो समस्त रुचियों का अन्त करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, निर्वासना से प्रीति सबल होती है और प्रीति से वासनाओं का अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रीति–रूपी रुचि और असंगता–रूपी अरुचि से रुचि–अरुचि का द्वन्द्व सदा के लिए मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

असंगता तथा प्रीति–इन दोनों से ही कर्म, चिन्तन और स्थिति तीनों ही से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है, क्योंकि प्रीति और

असंगता दोनों ही से देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही अहम् और मम का नाश हो जाता है। अहम् के नाश से परिच्छिन्नता मिट जाती है और मम के नाश से असीम प्रीति उदय होती है। परिच्छिन्नता का नाश होते ही भेद मिट जाता है और असीम प्रीति के उदय होने से भिन्नता मिट जाती है। भेद और भिन्नता के मिटते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, अथवा यों कहो कि भोग, मोह एवं द्वेष का सदा के लिए अन्त हो जाता है। भोग—वासनाओं का अन्त होते ही स्वभाव से ही योग, मोह का अन्त होते ही स्वभाव से ही बोध और द्वेष का अन्त होते ही स्वभाव से ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। योग में शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और बोध में अनन्त, नित्य जीवन तथा प्रेम में अगाध, अनन्त रस निहित है। रुचि तथा योग्यता भेद से इन तीनों में—से किसी भी एक की उपलब्धि हो जाने पर तीनों ही प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि योग की पूर्णता में बोध तथा प्रेम और बोध की पूर्णता में योग तथा प्रेम और प्रेम के प्राकट्य में योग तथा बोध स्वतः सिद्ध है।

जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से उदय होकर प्रीति में ही विलीन होती है, वे प्रेम प्राप्त कर ज्ञान तथा योग प्राप्त कर लेते हैं और जिन प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त राग—रहित होने में होता है, वे योग प्राप्त कर ज्ञान और प्रेम प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि राग—रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और योगरूपी वृक्ष में ही ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेमरूपी रस से परिपूर्ण हैं। जो प्राणी विवेकपूर्वक सभी अवस्थाओं से असंग हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान, योग तथा प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी अपनी—अपनी रुचि के अनुसार साधननिष्ठ होकर रुचि—अरुचि के द्वन्द्व का अन्त कर चित्त शुद्ध कर सकता है।

१४—६—५६

१८

अहम् और वस्तु का विभाजन

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

वस्तु में अहम्–बुद्धि तथा अहम् में वस्तु–बुद्धि होने से मोह तथा काम की उत्पत्ति होती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। मोह की उत्पत्ति से भेद और काम से अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तु में अहम्–बुद्धि होने से प्राणी जड़ता में और अहम् में वस्तु–बुद्धि होने से परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है। जड़ता मोह को और परिच्छिन्नता काम को पोषित करती है। मोह संयोग की दासता और वियोग का भय उत्पन्न करता है। संयोग की दासता से बन्धन–वियोग के भय से अभाव का जन्म होता है। यद्यपि बन्धन तथा अभाव किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है, परन्तु बेचारा मोह वश उसी में जीवन–बुद्धि स्वीकार कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त वस्तुओं से तो प्राणी की तद्रूपता हो जाती है, जिससे वह जड़ता में आबद्ध हो जाता है और अप्राप्त वस्तुओं का आह्वान करता रहता है, जिससे अनेक प्रकार के अभावों से पीड़ित रहता है, अथवा यों कहो कि सुख की आशा तथा दुःख के भय में आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है।

अहम् में वस्तु–बुद्धि स्वीकार करते ही परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है, जो काम को जन्म देती है। काम का जन्म होते ही परिवर्तनशील वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता भासित होने लगती है, जिससे बेचारा प्राणी अनन्त, नित्य सौन्दर्य से विमुख होकर सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य में आबद्ध हो जाता है। उस सौन्दर्य की आसक्ति अनेक कामनाओं को जन्म देती है, जिससे बेचारा प्राणी

कामना पूर्ति–अपूर्ति से सुखी–दुःखी होता रहता है, अथवा यों कहो कि दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलता रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि सर्व प्रथम अहम् का भास होता है, अथवा वस्तु की प्रतीति होती है। किसी भी वस्तु की प्रतीति उस समय तक नहीं होती, जिस समय तक अपने में परिच्छिन्नता का भास न हो और परिच्छिन्नता का भास उस समय तक नहीं होता, जिस समय तक अहम्–स्फूर्ति में किसी मान्यता विशेष की स्वीकृति हो नहीं जाती। अतः अहम्–स्फूर्ति में किसी मान्यता की स्वीकृति होने पर ही कामनाओं का जन्म होता है। और कामनाओं की उत्पत्ति से ही वस्तुओं की प्रतीति होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्व प्रथम अहम्–स्फूर्ति में ही मान्यता की स्थापना हुई। यद्यपि उस काल का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को नहीं है जिस काल में मान्यता की स्थापना की गई थी परन्तु मान्यता की निवृत्ति अथवा उसमें परिवर्तन होता है। इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि मान्यता की स्थापना हुई थी। यह सभी की अनुभूति है कि घोर निद्रा से जग जाने पर प्राणी को सभी वस्तुओं से पूर्व अपने अहम् का भास होता है, अथवा यों कहो कि प्राणी की प्रथम स्मृति अहम् की होती है। उसके पश्चात् दूसरी स्मृतियाँ आती हैं, जिनके आते ही प्राणी अपने को कुछ–न–कुछ मान लेता है। यद्यपि उस मान्यता का चित्र कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य से भिन्न कुछ नहीं होता। परन्तु निष्क्रियता काल में भी प्राणी मान्यता की सत्यता को ज्यों–का–त्यों स्वीकार करता है।

यदि मान्यता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसका अभाव तथा उसमें परिवर्तन न होता। प्राणी जो कुछ करता है, उससे मान्यता की सत्यता पुष्ट होती है तथा किसी परिस्थिति से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे वस्तुओं, प्रतीतियों व मान्यताओं में अहम्–बुद्धि दृढ़ हो जाती है, जो भेद की उत्पत्ति में हेतु है।

कर्त्तव्यरूप मान्यता से विद्यमान राग–द्वेष की निवृत्ति होती है

और अकर्त्तव्यरूप मान्यताओं से नवीन राग–द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग–द्वेष की निवृत्ति होने पर मान्यता की स्वीकृति में सत्यता नहीं रहती, जिसके मिटते ही भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती और स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यरूप मान्यताएँ चित्त–शुद्धि का साधनमात्र है।

समस्त कर्त्तव्यों की परावधि राग–द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग की पूर्णता एवं प्रेम की प्राप्ति में है। किन्तु कर्त्तव्यों की पूर्णता से पूर्व जब तक प्राणी के जीवन में आंशिक कर्त्तव्य है तब तक निष्क्रियता काल में भी परिच्छिन्नता, अर्थात् सीमित अहम्भाव ज्यों–का–त्यों सुरक्षित रहता है। कर्त्तव्यपरायणता की दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त और दूसरी प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्वकाल में मान्यता अव्यक्तरूप से भले ही हो, पर व्यक्तरूप से प्रतीत नहीं होती। तब भी परिच्छिन्नता ज्यों–की–त्यों रहती है, क्योंकि एक ही अहम्–भाव में अनेक मान्यताओं की स्वीकृति है। मान्यताओं के अनुरूप प्रवृत्ति का जन्म होता है। साधनरूप प्रत्येक प्रवृत्ति का जन्म व्यक्ति में दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए ही होता है। अर्थात् प्रवृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरों के अधिकारों की रक्षा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति में से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। यदि प्राणी दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार की आशा न करे, तो नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती । समस्त कर्त्तव्यों में दो ही भाग होते हैं–एक, दूसरों के अधिकार की रक्षा और दूसरा; अपने अधिकार का त्याग। दोनों भागों की पूर्णता होने पर राग का अत्यन्त अभाव हो जाता है, जिसके होते ही द्वेष स्वतः मिट जाता है। राग–द्वेष रहित होते ही चित्त शुद्ध, स्वस्थ तथा शांत हो जाता है।

सर्व प्रथम भासित होने वाली अहम्–स्फूर्ति में परिच्छिन्नता भले ही हो, पर उसमें किसी गुण–दोष का आरोप नहीं होता। यद्यपि परिच्छिन्नता स्वयं एक बड़ा दोष है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण वह दोष क्रियात्मक रूप धारण नहीं करता। उस अव्यक्त में ही जब किसी मान्यता की स्थापना हो जाती है, तब मान्यता के अनुरूप एक

विधान का ज्ञान प्राणी को स्वतः होता है। यदि उस विधान के विपरीत कोई चेष्टा न की जाए, तो साधनरूप मान्यता से सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और व्यक्ति में सदाचार की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहो कि विधान और व्यक्ति के चरित्र में एकता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्–भाव अपने आप गलने लगता है। सर्वांश में चरित्र और विधान की एकता होने पर समस्त दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

वस्तु में अहम्–बुद्धि और अहम् में वस्तु–बुद्धि की स्वीकृति कब से हुई है, उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। परन्तु वस्तु में–से अहम्बुद्धि का और अहम् में–से वस्तु–बुद्धि का त्याग हो सकता है। उसके लिए वस्तु और अहम् में क्या भेद है, यह जानना अनिवार्य है। अर्थात् वस्तु और अहम् का क्या स्वरूप है ? वस्तु–रहित अहम् क्या है ? और अहम्–रहित वस्तु क्या है ? जो उत्पत्ति–विनाशयुक्त है, जिसमें सतत परिवर्तन है और जो परप्रकाश्य है, उसे वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य और समस्त परिवर्तनशील मान्यताएँ भी वस्तु ही हैं। वस्तुओं के सम्बन्ध से भेद और भिन्नता की उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु में अहम् की स्थापना हो जाती है, उसमें सत्यता और प्रियता भासने लगती है। अर्थात् वस्तुओं से भेद की उत्पत्ति और अहम् से सत्यता और प्रियता का भास होता है। इसी कारण वस्तु और अहम् के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता, जड़ता आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। और उन दोषों में सत्यता, प्रियता ओर सुखरूपता भासने लगती है, जिससे अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे चित्त अशुद्ध, अशांत और अस्वस्थ हो जाता है। चित्त के अशुद्ध होने से समस्त विकारों की, अशांत होने से असमर्थता की और अस्वस्थ होने सें पराधीनता की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे बेचारा प्राणी मिथ्या अभिमान तथा घोर दीनता में आबद्ध हो जाता है।

यदि वस्तु में अहम्–बुद्धि न रहे, तो जड़ता की और अहम् में

वस्तु—बुद्धि न हो, तो परिच्छिन्नता की उत्पत्ति ही नहीं होती। जड़ता और परिच्छिन्नता के बिना न तो काम की ही उत्पत्ति होती है और न भेद की। काम और भेद के बिना आसक्ति तथा मोह शेष नहीं रहता। मोह का अन्त होते ही जड़ता का अभाव, चिन्मय—नित्य जीवन से अभिन्नता और आसक्ति का अन्त होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नित्य, चिन्मय जीवन की अभिन्नता में स्वरूप की एकता है। कारण, कि इन दोनों का विभाजन सम्भव नहीं है। वस्तु और अहम् के विभाजन से वस्तु और अहम् दोनों ही का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, जिसके न रहने से अलौकिक, दिव्य, चिन्मय, अनन्त, नित्य जीवन की ही सत्ता शेष रहती है, जो सभी का सब कुछ है। किसी ने उसे अपने में और किसी ने उसमें अपने को पाया है।

पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी या तो मूल दोष का अन्त कर सभी मान्यताओं से रहित हो वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाए, अथवा साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होकर राग—द्वेष का अन्त कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। चित्त के शुद्ध होने पर समस्त विकार अपने आप मिट जाते हैं। चित्त के शान्त होने पर आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है, अर्थात् असमर्थता शेष नहीं रहती और चित्त के स्वस्थ होने पर पराधीनता का नाश, अर्थात् स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकारता, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति को साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक परिस्थिति, सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः प्राप्त होती है, क्योंकि वह अनन्त की देन है। अतः प्रत्येक साधक अपनी—अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार साधन—परायण हो सकता है। कर्त्तव्यपरायणता समस्त साधनों की भूमि है। अनेक दार्शनिक भेद होने पर भी परिस्थिति के सदुपयोग में कोई भेद नहीं है। अपने—अपने विश्वास, भाव तथा विवेक के अनुरूप प्रत्येक साधक

का दृष्टिकोण भले ही भिन्न हो, परन्तु परिस्थिति के सदुपयोग का जो क्रियात्मक रूप है, उसमें प्रायः सभी की समानता है। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के नहीं होते, परन्तु सभी की स्वाभाविक आवश्यकता, अर्थात् लक्ष्य एक होता है। लक्ष्य की एकता के नाते सभी साधकों में मान्यता और कर्म की भेद होने पर भी स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की भिन्नता किसी भी साधन में नहीं है, क्योंकि स्नेह की भिन्नता होने पर सिद्धि सम्भव ही नहीं है। स्नेह की व्यापकता ही राग—द्वेष का अन्त कर सकती है। राग—द्वेष के अन्त में ही सिद्धि निहित है।

विवेकपूर्वक असंगता से भी राग—द्वेष का अन्त हो जाता है, क्योंकि असंगता समस्त वासनाओं का अन्त कर भेद तथा भिन्नता को खा लेती है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्यपालन कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है।

विकल्परहित विश्वास के आधार पर समर्पित होते ही अनन्त की कृपा—शक्ति स्वतः राग—द्वेष को खा लेती है और त्याग तथा प्रेम को प्रदान करती है, जिससे स्वाधीनता, अमरत्व तथा अगाध—अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और समर्पण—इन तीनों के द्वारा चित्त शुद्ध हो सकता है। इनमें—से किसी एक की पूर्णता होने पर तीनों की पूर्णता हो जाती है। कर्त्तव्यपरायणता से योग, असंगता से बोध एवं समर्पण से प्रेम की प्राप्ति होती है। योग, ज्ञान, प्रेम—इन तीनों में विभाजन सम्भव नहीं है। ये तीनों उस अनन्त की विभूति हैं। इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने वस्तुओं में—से अहम्—बुद्धि और अहम् में—से वस्तु—बुद्धि का त्याग कर काम और मोह से रहित होकर चित्त शुद्ध कर लिया है।

१५.६.५६

१९

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व में चित्त की अशुद्धि निहित है। कारण, कि वर्तमान जीवन के जिस स्तर में केवल आसक्ति ही आसक्ति है, उस स्तर में अशुद्धि होने पर भी चित्त की शुद्धि का प्रश्न वर्तमान की वस्तु नहीं बनता। पर जीवन के जिस स्तर में आसक्ति के साथ–साथ अनासक्ति का भी प्रकाश है, उसी स्तर में चित्त–शुद्धि की समस्या उत्पन्न होती है, अर्थात् अनासक्ति के प्रकाश ने ही आसक्ति को मिटाने की प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति ही चित्त की वास्तविक अशुद्धि है। संकल्प–अपूर्ति के दुःख का भय तथा संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता ही भोगासक्तियों को पोषित करती है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

आसक्ति की वास्तविकता जान लेने पर आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से आसक्ति के स्वरूप को जान लेना अनिवार्य है। आसक्ति सदैव उसके प्रति होती है, जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। जिससे किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता नहीं होती, उसमें आसक्ति नहीं होती। जिससे भिन्नता है ही नहीं, उससे प्रेम होता है, आसक्ति नहीं। जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, उसका त्याग हो सकता है, उसमें आसक्ति नहीं हो सकती। अर्थात् आसक्ति उसी में होती है, जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है। देह तथा देही में ही सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को देह के परिवर्तन और अपने अपरिवर्तन का ज्ञान है।

परिवर्तन और अपरिवर्तन में वास्तविक एकता तथा अभिन्नता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से देही तथा देह के प्रति सम्बन्ध जनित एकता ही हो सकती है, वास्तविक नहीं।

आसक्ति—जनित सम्बन्ध एकमात्र वस्तुओं के प्रति ही होता है। जो वस्तुओं से अतीत है, उससे योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध हो सकता है, आसक्तियुक्त नहीं। योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देता है। इस कारण योग, ज्ञान तथा प्रेमपूर्वक जिससे सम्बन्ध होता है, उसमें आसक्ति नहीं होती, प्रत्युत् एकता तथा अभिन्नता होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई यह कहे कि आसक्तिजनित संबन्ध दो व्यक्तियों में ही हो सकता है, अथवा विभिन्न विचार धाराओं, दलों तथा सम्प्रदायों के प्रति भी हो सकता है। तो कहना होगा कि क्या कोई किसी व्यक्ति में उस समय तक आसक्त होता है, जब तक उसमें देहरूपी वस्तु की स्थापना न कर ले ? दो आसक्त प्राणी अपने को देह से अलग अनुभव कर, क्या एक दूसरे में आसक्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं। इस दृष्टि से आसक्ति केवल वस्तु में ही सिद्ध होती है, चाहे वह अपनी देह में हो, अथवा किसी अन्य में। इतना ही नहीं, देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति होती है, क्योंकि देह के लिए ही वस्तुओं की अपेक्षा है। देहातीत के जीवन में किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् देह की आसक्ति को ही प्राणी अनेक वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की आसक्ति के रूप में बनाए रखता है। यदि देह में आसक्ति न रहे, तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म—देह की आसक्ति ही विचारधाराओं, सम्प्रदायों तथा मतों में आसक्ति उत्पन्न करती है। अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए ही प्राणी बड़े—बड़े दलों का आविष्कार करता है।

विचारों की आसक्ति ही दो दलों, दो सम्प्रदायों आदि में संघर्ष उत्पन्न करती है। यद्यपि दो व्यक्ति भी सर्वांश में एक नहीं होते, परन्तु फिर भी प्राणी आसक्ति—वश अपनी विचारधारा के आधार पर

अनेक व्यक्तियों को संगठित कर व्यक्त–अव्यक्त रूप से अपने व्यक्तित्व की पूजा कराता है, जिससे बेचारा पराधीन होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। सर्वांश में अनासक्ति आ जाने पर प्रत्येक वस्तु, विचारधारा आदि का सदुपयोग हो सकता है, पर परस्पर में भेद तथा संघर्ष नहीं हो सकता। भेद तथा संघर्ष का अन्त होने पर क्या चित्त अशुद्ध हो सकता है ? अतः आसक्ति–अनासक्ति का द्वन्द्व रखते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि जब अनासक्ति आसक्तियों को खा लेती है, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। अनासक्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, विचारधारा आदि की नाशक नहीं है, अपितु उनकी दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से अनासक्ति की भूमि में ही सभी का विकास निहित है।

वर्तमान वस्तुस्थिति में प्रत्येक प्राणी को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति का चित्र दिखाई देता है। संकल्प–उत्पत्ति का दुःख संकल्प–पूर्ति से क्षणमात्र के लिए दब जाता है। परन्तु जब ऐसे संकल्प उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं, तब बेचारा प्राणी संकल्प–पूर्ति के चिन्तन में आबद्ध होकर परिस्थितियों का दास बन जाता है। परिस्थितियों की दासता प्राप्त परिस्थिति में ममता और अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान कराती रहती है। ज्यों–ज्यों प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन दृढ़ होता जाता है, त्यों–त्यों बेचारा प्राणी पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होता जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि दृढ़ होती जाती है।

यद्यपि संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है, परन्तु प्राणी उस पर दृष्टि नहीं रखता। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प–पूर्ति का महत्त्व बढ़ जाता है। प्रत्येक संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता नवीन संकल्प की जननी है। इस कारण संकल्प–पूर्ति को महत्त्व देने से संकल्पों का प्रवाह चलता ही रहता है और अन्त में संकल्प–अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। इतना ही नहीं, बेचारा संकल्प–पूर्ति के सुख का भोक्ता पराधीन तथा असमर्थ होकर

जड़ता में आबद्ध हो जाता है, क्योंकि भोग्य वस्तुओं का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास तो हो ही जाता है, पर उस बेचारे के चित्त में केवल भोगासक्ति ही अंकित रह जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

संकल्प–अपूर्ति का दुःख जब संकल्प–पूर्ति की महत्ता को खा लेता है, तब संकल्प–निवृत्ति के जीवन में श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होता है, जिसके होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प तो उत्पन्न ही नहीं होते। और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो–होकर अपने आप मिटते जाते हैं; जिनके मिटते ही संकल्प–निवृत्ति की, जो कि प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के पश्चात् स्वाभाविक है, दृढ़ता स्वतः होने लगती है। संकल्प–निवृत्ति के स्तर पर दुःख नहीं है और अशान्ति, असमर्थता तथा पराधीनता भी नहीं है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों संकल्प–निवृत्ति की महत्ता और सुलभता चित्त में अंकित होती जाती है, त्यों–त्यों संकल्प–पूर्ति का सुख नीरस होता जाता है। संकल्प–पूर्ति के सुख की नीरसता संकल्प–निवृत्ति की शान्ति को सबल तथा स्थायी बनाती है। ज्यों–ज्यों संकल्प–निवृत्ति की शान्ति दृढ़ तथा अचल होती जाती है, त्यों–त्यों सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। इस दृष्टि से संकल्प–निवृत्ति प्राणी को असमर्थता, पराधीनता एवं जड़ता से रहित कर देती है।

संकल्प–निवृत्ति की शान्ति के द्वारा संकल्प–पूर्ति के सुख की नीरसता ज्यों–ज्यों स्थायी होती है, त्यों–त्यों प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन स्वतः मिटता जाता है, जिसके मिटते ही बेचारा अहम्–भाव निर्जीव हो जाता है। कारण, कि प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन ही उसका जीवन था। समस्त ममताओं का जो केन्द्र है, वही सीमित अहम् का स्वरूप है। अतः समस्त ममताओं का अन्त होते ही बेचारा अहम् अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि अहम् के गलने से सभी ममताएँ मिट जाती हैं और ममताओं के मिट जाने से अहम् गल जाता है। अहम्

और मम का अंत होते ही सभी आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

संकल्प–निवृत्ति की सुलभता तथा महत्ता दृढ़ होने पर प्राणी असाधारण जीवन की ओर अग्रसर होने लगता है, क्योंकि समस्त विकास संकल्प–निवृत्ति में ही निहित है। संकल्प–निवृत्ति के स्तर पर दृढ़ होने से ही प्राणी चित्त–विज्ञान, अर्थात् चित्त की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। चित्त कितनी गहरी खाई है, इसका पता संकल्प–निवृत्ति के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त का निरोध, अथवा चित्त का बोध वही कर सकता है, जो संकल्प–निवृत्ति के स्तर पर ठहर सकता है। अथवा यों कहो कि चित्त का बोध तथा चित्त का अपने अभीष्ट लक्ष्य में पूर्णरूप से लग जाना, अर्थात् चित्त का लक्ष्याकार हो जाना तभी सम्भव है, जब प्राणी संकल्प–निवृत्ति की स्थिति को सुरक्षित कर सके। यहाँ तक कि उसकी शान्ति में भी रमण न करे। अर्थात् संकल्प–अपूर्ति के दुःख के भय, संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता एवं संकल्प–निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाय। चित्त के निरोध में योग, बोध में ज्ञान और लक्ष्याकार होने में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है।

संकल्प–निवृत्ति से ही संकल्प–पूर्ति की सामर्थ्य आती है और संकल्प–निवृत्ति के महत्त्व से ही संकल्प–पूर्ति के सुख का राग मिट सकता है, अर्थात् अनासक्ति प्राप्त हो सकती है। अनासक्ति के बिना कोई भी प्राणी न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर सकता है और न अप्राप्त परिस्थिति की कामना से रहित हो सकता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियों से अतीत के जीवन में न तो विश्वास तथा श्रद्धा ही हो सकती है और न उसकी प्राप्ति ही सम्भव है। अतः भौतिक विकास और आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि संकल्प–निवृत्ति में ही निहित है।

संकल्प–निवृत्ति के स्तर पर समर्थ और असमर्थ समान हो जाते हैं। कारण, कि संकल्प–निवृत्ति में दुःख की निवृत्ति है। दुःख की

निवृत्ति होने पर सुख का महत्त्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुखी और दुःखी में जो विषमता थी, वह शेष नहीं रहती। जिस प्रकार गहरी नींद में सभी प्राणी समान होते हैं, उसी प्रकार संकल्प–निवृत्ति में समता आ जाती है। गहरी नींद ओर संकल्प–निवृत्ति की समता में एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद की समता प्राणी को जड़ता में आबद्ध करती है, परन्तु संकल्प–निवृत्ति की समता चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। परन्तु कब ? जब प्राणी संकल्प–निवृत्ति को ही जीवन नहीं मानता। यद्यपि संकल्प–निवृत्ति संकल्प–पूर्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु वही जीवन नहीं है। संकल्प–पूर्ति और संकल्प–निवृत्ति में एक बड़ा अन्तर यह है कि संकल्प–पूर्ति जिन साधनों से होती है, प्राणी उनके अधीन हो जाता है, अर्थात् स्वाधीन नहीं रहता किन्तु संकल्प–निवृत्ति के स्तर पर वस्तु, व्यक्ति आदि की पराधीनता नहीं रहती। परन्तु अहं का महत्त्व सुरक्षित रहता है। संकल्प–पूर्ति वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन बनाती है और संकल्प–निवृत्ति अहम् का महत्त्व बढ़ाती है। अहम् का महत्त्व वस्तुओं की अपेक्षा भले ही अधिक हो, परन्तु वास्तविक जीवन में अहम् का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि अहम् भेद को उत्पन्न करता है जो अनर्थ का मूल है।

वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए सीमित अहम् का अन्त करना अनिवार्य है, जो योग, ज्ञान तथा प्रेम की पूर्णता से ही सम्भव है। संकल्प–निवृत्ति में जीवन बुद्धि न रहने से अपने आप विचार का उदय होता है, जो काम का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। निस्सन्देहता सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है, क्योंकि किसी भी अवस्था में आबद्ध प्राणी सन्देह रहित नहीं हो सकता। निर्विकल्प स्थिति सभी अवस्थाओं में श्रेष्ठ है, परन्तु अवस्थातीत जीवन का तो द्वार ही है। इस प्रकार प्राणी को बड़ी ही सावधानीपूर्वक निर्विकल्प स्थिति से असंग होना है।

अवस्था की आसक्ति अहम् को जीवित रखती है, और अवस्थाओं की असंगता अहम् को भस्मीभूत कर देती है। अहम् का अन्त होते

ही नित्य–योग, निस्सन्देहता एवं प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। संकल्प–निवृत्ति वस्तुओं की आसक्ति को खाकर अनासक्ति और संकल्प–निवृत्ति की असंगता अहम् को खाकर अभिन्नता प्रदान करती है। अनासक्ति और अभिन्नता से चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर आसक्ति–अनासक्ति का द्वन्द्व शेष नहीं रहता, क्योंकि अहम्–भाव गल जाने से आसक्ति की उत्पत्ति नहीं होती और अनासक्ति का अभिमान नहीं रहता। अथवा यों कहो कि अनासक्ति का अभिमान भी एक आसक्ति ही है, जिसके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। अतः चित्तशुद्धि के लिए अनासक्ति के अभिमान का अन्त करना भी अनिवार्य है।

१६.६.५६

२०

प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन–निर्माण

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

किसी अप्राप्त साधन के द्वारा किसी ऐसे साध्य की खोज करना जो सर्वत्र तथा सर्वदा नहीं है चित्त को अशुद्ध करना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक साधक को साधन–सामग्री स्वतः प्राप्त है और उसी के सदुपयोग से साध्य की उपलब्धि अनिवार्य है। कारण, कि वह साधन साधन नहीं, जिसके करने में साधक असमर्थ हो और वह साध्य साध्य नहीं, जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो। साधन वही है, जिसके करने में साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। साधक और साधन के मध्य में अगर कोई आवरण है, तो वह असाधन है। साधन और असाधन में केवल इतना ही भेद है कि प्राप्त वस्तु तथा सामर्थ्य का उपयोग निज विवेक के अनुरूप होना साधन और उसके विपरीत होना असाधन

है। साधक साधन से अभिन्न होकर अपने साध्य का प्रेम तथा उसका ज्ञान एवं अभिन्नता प्राप्त करने की लालसा रखता है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव होगी, जब साधक में से असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति हो जाए, अर्थात् साधनरूपी प्रकाश असाधनरूपी अन्धकार को खा जाय।

असाधन का ज्ञान साधक में स्वयं हैं यदि ऐसा न होता, तो साधन की लालसा ही जाग्रत न होती। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसके जीवन में कर्त्तव्य का प्रश्न न हो और जिसका कोई लक्ष्य न हो। कर्त्तव्य का प्रश्न यह सिद्ध करता है कि वर्तमान वस्तुस्थिति में किसी—न—किसी अंश में अकर्त्तव्य है। जब प्राणी निज—विवेक के प्रकाश में अकर्त्तव्य को जान लेता है, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका त्याग कर कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है कारण, कि अकर्त्तव्य के त्याग में कर्त्तव्यपालन की सामर्थ्य निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही असाधन मिट जाता है और साधन से अभिन्नता हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन साध्य का स्वभाव है, और वही साधक का जीवन है। साधन के अतिरिक्त साधक का कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपने जाने हुए तथा बनाए हुए असाधन का अन्त कर साधन से अभिन्न हो जाए।

असावधानी के कारण बेचारा प्राणी असाधन को देखने की दृष्टि का उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर न करके दूसरों पर करने लगता है। उसका परिणाम यह होता हे कि साधक के जीवन में साधन और असाधन का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। असाधन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साधक की असावधानी से ही असाधन की उत्पत्ति और उसका पोषण होता है, अथवा यों कहो कि असावधानी की भूमि में ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं, उसको न मानना और जो कर सकते हैं, उसको न करना ही असावधानी है। इस दृष्टि से असावधानी किसी और की देन नहीं है और न प्राकृतिक है और न उसका कोई स्वतन्त्र

अस्तित्व है। इतना ही नहीं, स्वाभाविकता में जो अस्वाभाविकता की स्थापना कर ली जाती है, वही असावधानी है। अस्वाभाविकता कितनी ही सबल क्यों न प्रतीत हो, पर वह स्वाभाविकता का नाश नहीं कर सकती। और स्वाभाविकता कितनी ही निर्बल क्यों न हो, पर वह अस्वाभाविकता को मिटाने में समर्थ होती है, क्योंकि स्वाभाविकता उस अनन्त का विधान है और अस्वाभाविकता व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। इस कारण स्वाभाविकता से अस्वाभाविकता मिट सकती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है। अतः जिसे जो परिस्थिति प्राप्त है, वह उसी के सदुपयोग से साधननिष्ठ हो सकता है अब यदि कोई यह कहे कि मेरा तन, मन, बुद्धि, साथी, देश, काल, वस्तु आदि मेरे अनुकूल नहीं है, इस कारण साधननिष्ठ नहीं हो सकता। तो जो प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा साधननिष्ठ नहीं हो सकता, वह वर्त्तमान में साधक नहीं बन सकता, क्योंकि साधन वर्त्तमान जीवन की वस्तु है। उसको भविष्य पर नहीं छोड़ा जा सकता। प्रकृति के विधान में प्राणीमात्र के प्रति हित—कामना तथा स्नेह है। भला उससे किसी भी व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति मिल सकती है, जो साधन—सामग्री न हो ? कदापि नहीं।

समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति के सदुपयोग से सिद्ध होते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें किसी—न—किसी अंश में विवेकशक्ति भावशक्ति और क्रियाशक्ति न हो। न्यूनाधिक का भेद भले ही हो, पर इन शक्तियों से रहित कोई व्यक्ति नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति साधननिष्ठ हो सकता है। यह मानना कि मैं साधननिष्ठ नहीं हो सकता, अपने प्रति घोर अत्याचार करना है, अथवा यों कहो कि अपने द्वारा अपना विनाश करना है। प्रत्येक व्यक्ति में यह विकल्परहित विश्वास होना चाहिए कि मैं जिस परिस्थिति में हूँ, उसी में साधन कर सकता हूँ क्योंकि इस विश्वास का विरोध न तो

प्राकृतिक विधान में है और न व्यक्ति के विवेक में। असाधनजनित सुखलोलुपता के कारण बेचारा प्राणी यह मान् बैठा है कि मैं साधन करने में असमर्थ हूँ। यह मान्यता अस्वाभाविक है, इसका त्याग करना परम अनिवार्य है।

प्राप्त विवेक में कर्त्तव्य—विज्ञान तथा वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान विद्यमान है यदि विवेक में कर्त्तव्य का ज्ञान न होता, तो व्यक्ति अपने प्रति होने वाले अन्याय को कैसे जानता ? और दूसरों से न्याय तथा प्रेम की आशा कैसे करता ? अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराई जानता है। यदि प्राणी अपनी जानी हुई बुराई का अन्त कर दे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता। व्यक्ति के कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है, क्योंकि समाज के अधिकार की रक्षा ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते ही उसमें जो विद्यमान राग था, उसकी निवृत्ति हो जाती और यदि वह अपने अधिकार की चिन्ता न करे, अर्थात् उसका त्याग कर दे, तो नवीन राग की उत्पत्ति ही न हो। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाए और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, तो प्राणी बड़ी ही सुगमता पूर्वक राग—रहित हो जाता है। राग—रहित होते ही द्वेष अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्वतः प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त भेद अपने आप मिट जाते हैं। क्योंकि प्रेम का स्वभाव ही है कि वह भेद तथा भिन्नता को खा लेता है। भेद तथा भिन्नता के मिटते ही प्राणी काम—रहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य—विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के हित में ही अपना हित निहित है। क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वही कई गुना अधिक होकर अपने प्रति हो जाता है। इस विधान के अनुसार किसी भी प्राणी को किसी के प्रति वह करना ही नहीं है, जो अपने प्रति दूसरों के द्वारा अभीष्ट नहीं है। यदि निर्बलता आदि किसी कारण से दूसरों के द्वारा हमारे साथ वह

न हो सके, जो हमने दूसरों के साथ किया है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा किया हुआ हमारे प्रति नहीं होगा। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः वह शक्ति उत्पन्न हो जाएगी, जिसके द्वारा हमारा किया हुआ हमारे प्रति स्वतः हो जायगा। क्योंकि किये हुए कार्य की प्रतिक्रिया स्वतः होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक सबल को निर्बल की रक्षा करनी चाहिए, तभी सबल का बल सुरक्षित रह सकता है।

जिस बल से निर्बलों की सेवा नहीं होती, अपितु ह्रास होता है, वह बल स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही बेचारा सबल निर्बल हो जाता है और उसका विरोधी पक्ष सबल हो जाता है। अतः प्राकृतिक विधान के अनुसार बल निर्बलों की ही वस्तु है। उसके द्वारा निर्बलों की सेवा करना अनिवार्य है, जिसके करने से सबल और निर्बल में अभिन्नता हो जाती है और फिर संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। समस्त निर्बलताओं का कारण एकमात्र बल का दुरुपयोग ही है और कुछ नहीं। बल का दुरुपयोग वही करता है, जो कर्त्तव्यविज्ञान का अनादर करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य–विज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्यपालन मात्र में ही प्राणी का अधिकार है उससे भिन्न कर्त्तव्यपरायण प्राणी अपना कोई अधिकार नहीं मानता है। अब यदि कोई यह कहे कि तो फिर कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के अधिकारों की रक्षा कैसे होगी ? यह नियम है कि प्राणियों के जीवन के अनुरूप ही समाज बनता है। अतः कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के द्वारा समाज में स्वतः कर्त्तव्य–परायणता आ जाएगी, जिसके ओते ही परस्पर में स्वतः एक दूसरे के अधिकार सुरक्षित हो जायेंगे। क्योंकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित रहता है। अतः अपना अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है और दूसरे का अधिकार अपना कर्त्तव्य है। अपने अधिकारों के त्याग की सामर्थ्य कर्त्तव्यपरायण प्राणियों में स्वतः आ जाती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। फिर भी कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी में अधिकार–लालसा उदय नहीं होती। परिणाम यह होता है कि

अधिकार सुरक्षित रहने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती। और यदि किसी कारण अधिकार का अपहरण हो जाय, तो क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् जो कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अपने अधिकार का त्याग कर देता है, वह राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। और जो प्राणी कर्त्तव्यपालन के बदले में अधिकार माँगता है, यदि उसकी पूर्ति हो गयी, तो उसके चित्त में राग अंकित हो जाता है और यदि अपूर्ति हुई, तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः चित्तशुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाए, जो वास्तविक कर्त्तव्य—विज्ञान है

प्राप्त विवेक अनन्त का विधान है। उसका आदर करना अनिवार्य है। वस्तुओं के परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान भी विवेक में विद्यमान है। यदि उसका आदर किया जाय, तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्लोभता, निर्मोहता और अपरिच्छिन्नता आदि की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति दरिद्रता का, निर्मोहता की अभिव्यक्ति अविवेक का और अपरिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति भेद का अन्त करने में समर्थ है। दरिद्रता के अन्त में उदारता, अविवेक के अन्त में निस्सन्देहता और भेद के अन्त में निर्भयता स्वतः आ जाती है। उदारता, निस्सन्देहता आते ही प्रेम, वास्तविकता का ज्ञान और सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। प्रेम में अनन्त रस, वास्तविकता के ज्ञान में अमरत्व और सामर्थ्य में स्वाधीनता निहित है। अमरत्व, स्वाधीनता और अनन्त रस की स्वाभाविक आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है। अतः वही प्राणी का लक्ष्य है, जिसकी उपलब्धि प्राप्त विवेक प्रकाश में प्राप्त वस्तु और सामर्थ्य का उपयोग करने पर स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से प्राणी का जो लक्ष्य है, उसकी प्राप्ति प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। अतः साधन करने में कोई भी साधक असमर्थ नहीं है। और साधननिष्ठ होने पर सफलता अनिवार्य है।

परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति पवित्र—भाव से भावित और

भाव निज–विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होना चाहिए। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसमें प्रेम, आदर तथा रक्षा की आकांक्षा न हो, अर्थात् यह आकांक्षा सभी में स्वाभाविक है। रक्षा उसी की होती है, जिससे किसी का विनाश, अर्थात् अहित न हो। और आदर उसी को मिलता है, जो स्वयं अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो और किसी का अनादर न करता हो। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य वही हो सकता है, जो अपने जाने हुए दोषों का अन्त करने में समर्थ है, अर्थात् जिसमें निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो गयी है। और उसी के द्वारा किसी का अनादर नहीं होता, जिसमें से पर–दोष–दर्शन की दृष्टि मिट जाती है। इस दृष्टि से जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वहितकारी–भाव, अथवा सर्वात्मभाव, अथवा प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होती है, उसकी प्रवृत्ति पवित्र–भाव से भावित है। प्रेम उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न की हो और जो प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अपने प्रेमास्पद की ही पूजा करते हैं। क्योंकि प्रेम के आदान–प्रदान में ही प्रेम की प्राप्ति है।

सर्वहितकारी–भाव, सर्वात्म–भाव अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होने पर ही प्रवृत्ति पवित्र–भाव से भावित हो सकती है। सर्वहितकारी–भाव से की हुई प्रवृत्ति विश्वप्रेम और सर्वात्मभाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति और प्रेमास्पद की पूजा के भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वतः प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से पवित्र–भाव से भावित प्रवृत्ति प्रेम प्रदान करती है, अर्थात् कर्त्ता प्रेमी हो जाता है। प्रेमी होने पर सर्वत्र–सर्वदा उसे प्रेमास्पद ही की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। अथवा यों कहो कि प्रेमी की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। भेद तथा भिन्नता का अभाव होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। अतः प्राप्त परिस्थिति के द्वारा साधन–निर्माण कर साधननिष्ठ हो साध्य को प्राप्त करने में प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

१७–६–५६

२१

प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

परिस्थिति के अनुरूप अपने आप होने वाली प्रवृत्तियों का अन्त जब वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता, तब प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अशान्ति, असमर्थता, पराधीनता, नीरसता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि उन दोषों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, परन्तु प्राणी उनमें आबद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त स्वभाव से ही वास्तविक निवृत्ति में होना चाहिए। परन्तु प्रवृत्तिकर्त्ता की असावधानी के कारण प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होता, अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति का अधूरापन उसका अन्त वास्तविक निवृत्ति में नहीं होने देता। यद्यपि ऐसी कोई प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, जिसका उद्‌गम निवृत्ति न हो और जो अन्त में स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन न हो, अर्थात् समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्ति की भूमि से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण प्रवृत्ति के आदि और अन्त की निवृत्ति को महत्त्व नहीं देता, उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाले निवृत्ति–काल में भी प्रवृत्ति–जनित स्मृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। जिससे बेचारा प्राणी आगे–पीछे के व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही प्राणी विवेक का अनादर तथा प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि शान्ति भंग हो जाती है और असमर्थता तथा पराधीनता अपने आप आ जाती है, जो चित्त की अशुद्धि है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल विद्यमान राग है। उसकी निवृत्ति के लिए प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी को परिस्थिति मिली है, जो सुख—दुःख से युक्त और परिवर्तनशील है। जब तक प्राणी सुख की आशा और दुःख के भय में आबद्ध रहता है, तब तक प्राप्त विवेक के अनुरूप परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि जो कार्य जितनी सुन्दरतापूर्वक होना चाहिए, नहीं होता। वर्तमान कार्य असुन्दर होने से कर्त्ता में कार्य करने का राग तो बना रहता है, पर उसकी सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति नहीं आती और भूतकाल की घटनाओं का प्रभाव चित्त में अंकित रहता है, जो निवृत्ति को भंग कर अनावश्यक प्रवृत्तियों की स्मृतियों को जन्म देता है। चित्त में अंकित स्मृतियाँ अनेक सम्बन्ध उत्पन्न करती हैं। इतना ही नहीं, वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी उनका सम्बन्ध और उनकी स्मृति सजीव रहती है, जो प्राणी को सीमित अहम्—भाव में आबद्ध करती है। अथवा यों कहो कि स्मृति और सम्बन्ध का समूह ही सीमित अहम् भाव है। सीमित अहम्—भाव के रहते हुए, जिन वस्तुओं का अस्तित्व है ही नहीं, उन वस्तुओं की सत्यता भासित होती है, जो बेचारे प्राणी को वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति की दासता से रहित नहीं होने देती। इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति सुरक्षित नहीं रहती ओर अनहोनी प्रवृत्तियों की स्मृति प्राणी को चैन से नहीं रहने देती, अर्थात् बेबस प्राणी मानसिक व्यथा में आबद्ध हो जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि अस्तित्वहीन वस्तुओं की स्मृतियों और माने हुए सम्बन्धों ने बेचारे प्राणी को वास्तविकता से विमुख कर दिया है। यदि प्राणी विवेकपूर्वक स्मृति और सम्बन्धों के समूह का अन्त कर डाले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है।

प्रवृत्तिजनित सुख प्रवृत्ति के राग को दृढ़ करता है। यद्यपि प्रवृत्ति—जनित सुख में पराधीनता, जड़ता शक्तिहीनता, अभाव आदि अनेक दोष हैं, परन्तु प्राणी सुखलोलुपता के कारण दोषों में ही

जीवन—बुद्धि मानकर प्रवृत्ति का दास बन जाता है। प्रवृत्ति की दासता निवृत्ति का महत्त्व चित्त में अंकित नहीं होने देती। निवृत्ति का महत्त्व जाने बिना प्राणी निवृत्ति से भयभीत होता है और प्रवृत्ति—जनित पराधीनता में ही स्वाधीनता के समान सुख भोगने लगता है, अर्थात् पराधीनता को स्वाधीनता मान लेता है।

यदि प्राणी प्रवृत्ति के मूल को जान लेता, तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रवृत्ति की दासता से रहित हो जाता। समस्त प्रवृत्तियों का मूल देहाभिमान है, जो अविवेक सिद्ध है। किसी ने भी अपने को देह से अलग जानकर किसी भी प्रवृत्ति का आश्रय नहीं लिया। कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मैंने अपने को देह से अलग जानकर अपने लिए अमुक कार्य किया है। समस्त कार्यों की उत्पत्ति अपने को देह मान लेने पर ही होती है, अर्थात् देह की तद्रूपता ही प्रवृत्ति की जननी है। देह की तद्रूपता से प्रवृत्ति का जन्म होता है और प्रवृत्तिजनित सुखासक्ति से देह की तद्रूपता दृढ़ होती है। यह चक्र उस समय तक चलता ही रहता है, जब तक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में न हो जाय।

प्रत्येक परिस्थिति सुख—दुःख से युक्त है। उसके अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। उत्पत्ति—विनाशयुक्त कोई भी परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जो सुख—दुःख से रहित हो। इतना ही नहीं, परिस्थिति में जो स्थिरता प्रतीत होती है, वह केवल उत्पत्ति—विनाश का क्रम है और कुछ नहीं। इस दृष्टि से जब परिस्थिति में ही स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, तो फिर उस पर आधारित प्रवृत्ति में स्थिरता कब सम्भव है ? प्रवृत्ति कितनी ही सुखद क्यों न हो, पर उसका अस्तित्व नित्य नहीं हो सकता। जिसका अस्तित्व नित्य नहीं है, उसका आश्रय लेकर प्राणी कब तक अपने को सुरक्षित रख सकता है ?

यह जान लेने पर कि प्रवृत्ति का अस्तित्व नित्य नहीं है, फिर भी परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति होती ही है। अतः प्राणी को बड़ी ही सावधानी पूर्वक यह देखना चाहिए कि होने वाली प्रवृत्ति के पीछे

भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे उद्देश्य क्या है ? प्रवृत्ति का उद्देश्य प्रवृत्ति हो नहीं सकता। इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति का अन्त प्रवृत्ति में होना उसके अधूरेपन को सिद्ध करता है। प्रवृत्ति का अधूरापन ही प्रवृत्ति के अन्त में वास्तविक निवृत्ति का अपहरण कर प्राणी को व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर देता है। जिससे वर्तमान कार्य सुन्दर नहीं हो पाता, जिसके न होने से व्यक्ति में करने का राग, देह को बनाए रखने की आशा, मरने का भय और अप्राप्त वस्तु आदि के पाने का प्रलोभन ज्यों—का—त्यों बना रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक विश्राम होना चाहिए, क्योंकि श्रम के अन्त में विश्राम सभी को अभीष्ट है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक कार्य उत्साह तथा उत्कण्ठापूर्वक पवित्र—भाव से विवेक के अनुरूप किया जाए। अर्थात् जिन कार्यों में निज—विवेक का विरोध हो, उनको क्रियात्मकरूप न दिया जाए, अपितु उनका त्याग कर सहज निवृत्ति को अपना लिया जाए तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति में हो सकता है, जो चित्त की शुद्धि में हेतु है।

प्रवृत्ति के द्वारा जिस किसी को जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में स्वतः मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का परिणाम अभाव रूप है। कारण कि परिस्थिति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति जिस वस्तु, अवस्था आदि को उत्पन्न करती है, वे सभी क्षणभंगुर तथा परिवर्तनशील हैं। परन्तु वास्तविक निवृत्ति से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है। इतना ही नहीं वास्तविक निवृत्ति जिस प्रवृत्ति को जन्म देती है, वह सर्वहितकारी होती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति को पुष्ट करती है। इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति एक दूसरे की पोषक हैं। वास्तविक निवृत्ति से उत्पन्न सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राणी में कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता और न की हुई प्रवृत्ति की ही अंकित होती है। इतना ही नहीं, सर्वहितकारी प्रवृत्ति सर्वात्मभाव प्रदान करती है, जिससे किसी से

भेदजनित सम्बन्ध की स्थापना नहीं होती और प्रवृत्ति —जनित फल की आशा भी नहीं रहती।

वास्तविक निवृत्ति की भूमि से जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसका बाह्य रूप भले ही सीमित हो, परन्तु भाव असीम तथा विभु होता है। इस कारण सर्वहितकारी प्रवृत्ति समाज के लिए विधान बन जाती है। परिस्थिति के अनुसार प्राणी चाहे वास्तविक निवृत्ति को अपना कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करे और चाहे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करे। सुखमय परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है और दुःखमय परिस्थिति में वास्तविक निवृत्ति द्वारा सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्पादित की जा सकती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति की पूर्णता में समस्त परिस्थितियों से असंगता स्वतः प्राप्त होती है। परिस्थितियों से असंग होते ही अशान्ति चिर—शान्ति में, असमर्थता सामर्थ्य में पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता में और नीरसता, सरसता में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति सुख—भोग की आसक्ति को खा लेती है, जिसके मिटते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। परन्तु कब ? जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक निवृत्ति हो। वास्तविक निवृत्ति अपने आप आती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति, अथवा देहाभिमान का त्याग वास्तविक निवृत्ति का साधन है। देहाभिमान का त्याग विवेकसिद्ध है जो दुःखमय परिस्थिति में भी हो सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति करुणा तथा उदारता के द्वारा ही सम्भव है। जो व्यक्ति प्राणीमात्र के दुःख को अपना दुःख मानता है और प्राप्त सुख को प्राणीमात्र का मानता है, वही सुखमय परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना सकता है। अथवा यों कहो कि जिस अंश में प्राणी सुखी है, उस अंश में उसे सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना कर वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए और जिस अंश में दुःखी हो, उस अंश में विवेकपूर्वक कामना—रहित वास्तविक निवृत्ति को अपनाना

चाहिए। वास्तविक निवृत्ति स्वाभाविक हो जाने पर जिस जीवन से अभिन्नता होती है, उसका वर्णन सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी प्राप्ति अनिवार्य है। उसके सम्बन्ध में संकेतमात्र यही कहा जा सकता है कि उस जीवन के बिना जीवन ही सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से उसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को करनी है, जो वास्तविक निवृत्ति से ही सम्भव है। जब तक वर्तमान कार्य इतना सुन्दर न किया जाय कि उस परिस्थिति में उससे सुन्दर न हो सके, तब तक करने की रुचि का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना प्रवृत्ति—जनित सुख की दासता मिट नहीं सकती। करने की रुचि का अन्त होते ही चिर—विश्राम प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आ जाता है, जिसके आते ही सीमित अहम्भाव में अंकित स्मृति तथा सम्बन्ध अपने आप मिट जाते हैं। अथवा यों कहो कि स्मृति तथा सम्बन्ध के मिटते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि स्मृति तथा सम्बन्ध मिटने पर सीमित अहम्भाव नहीं रहता और सीमित अहम्भाव के गल जाने पर स्मृति और सम्बन्धों का समूह नष्ट हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो रस रूप है, अर्थात् नीरसता का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है।

भूतकाल की प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न हुई स्मृतियाँ और उनसे उत्पन्न सम्बन्धों का समूह प्राणी का वर्तमान व्यक्तित्व है। उसका अभिमान ही प्राणी को प्रवृत्ति—जनित सुख—दुःख में आबद्ध करता है, जो वास्तव में निर्जीव है, अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसको महत्त्व देना प्राप्त विवेक का अनादर है। अतः विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के अभिमान का अन्त करने के लिए भूतकाल की स्मृति और माने हुए सम्बन्धों का अन्त करना अनिवार्य है। सम्बन्ध कितना ही दृढ़ क्यों न हो, अस्वीकृति—मात्र से मिट सकता है और यदि भूतकाल में हुई घटनाओं के अर्थ को अपना लिया जाय, तो उनसे उत्पन्न हुई स्मृति स्वतः मिट जाती है।

प्रत्येक घटना अपने अभाव की समर्थक है और वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करने में हेतु है। घटनाओं के इस अर्थ को अपना लेने पर भोग की रुचि का नाश हो जाता है और जिज्ञासा की जागृति हो जाती है। जिज्ञासा की जागृति स्वयं अपनी पूर्ति में आप समर्थ है, क्योंकि जिज्ञासा उसकी होती है, जिसका वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व है और स्मृतियाँ उसी की अंकित होती हैं, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ज्यों—ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों—त्यों चित्त में अंकित स्मृतियाँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति समस्त स्मृतियों को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, अर्थात् निस्सन्देहता आ जाती है। सन्देहरहित होते ही व्यक्तित्व का अभिमान गल जाता है। कारण, कि सन्देह में निस्सन्देह बुद्धि होने से ही व्यक्तित्व का अभिमान जीवित रहता है, अर्थात् अल्प ज्ञान को ज्ञान मान लेने पर ही व्यक्ति का अभिमान जीवित है। यद्यपि अल्प—ज्ञान सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति में हेतु है। परन्तु कब ? जब अल्प—ज्ञान को ज्ञान स्वीकार न किया। किन्तु प्रवृत्तिजनित सुखासक्ति अल्प—ज्ञान में ज्ञान का भ्रम उत्पन्न करती है, जो वास्तव में प्रमाद है। अतः परिस्थिति के अनुरूप जो कार्य उपस्थित है, उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक इतना सुन्दर किया जाये कि कार्य के अन्त में वास्तविक निवृत्ति स्वतः आ जाय। जिसके आते ही चिरशान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, सरसता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है, और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

१८—६—५६

२२

अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

चित्त की अशुद्धि के ज्ञान में ही उसकी शुद्धि की साधना विद्यमान है, अथवा यों कहो कि अशुद्धि का स्पष्ट–ज्ञान होते ही शुद्धि की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। कारण, कि अशुद्धि का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह उसी समय तक भासित होती है, समय तक उसे स्पष्ट रूप से जान न लिया जाय। अशुद्धि के ज्ञान से शुद्धि की लालसा जाग्रत होती है, जो अशुद्धि जनित सुखासक्ति को खाकर शुद्धि से अभिन्न कर देती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, उसी प्रकार शुद्धि की लालसा की जागृति और अशुद्धि–जनित सुखासक्ति की निवृत्ति युगपद् है। इस दृष्टि से अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की साधना निहित है।

प्रत्येक प्राणी को अपने चित्त की गतिविधि को प्राप्त विवेक की दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को त्याग कर भली–भाँति धीरजपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि संग्रह, पराधीनता और परिश्रम द्वारा सुखभोग तथा सुख की आशा से ही चित्त में अशुद्धि आ गई।

भय तथा प्रलोभन के कारण जब प्राणी विवेक–दृष्टि से अपनी वस्तुस्थिति को देख नहीं पाता, तब अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता प्रतीत होने लगती है भेद की प्रतीति एकता को भंगकर संग्रह की रुचि उत्पन्न कर देती है। संग्रह की रुचि चित्त में वस्तुओं का महत्त्व अंकित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वस्तुएँ व्यक्तियों की सेवा के लिए थीं, वे ही लोभ उत्पन्न करने में हेतु बन गईं, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी वस्तु का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और न कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील है। तो फिर वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना तथा उनकी स्थिति को महत्त्व देना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं समस्त वस्तुएँ जिससे उत्पन्न हुई हैं, जिससे प्रकाशित हैं, उसके अतिरिक्त किसी की स्वतन्त्र सत्ता हो ही नहीं सकती। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उससे सम्बन्ध जोड़ना, अथवा उससे सुख की आशा करना निरर्थक प्रयास है। वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही प्राणी में जड़ता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुख की आशा ने ही पराधीन बना दिया। पराधीनता ज्यों—ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों—त्यों प्राणी संग्रही होता जाता है। और ज्यों—ज्यों संग्रही होता जाता है, त्यों—त्यों पराधीन होता जाता है। अर्थात् संग्रह पराधीनता की ओर पराधीनता सग्रह को पुष्ट करती है। जड़ता, संग्रह और पराधीनता में आबद्ध प्राणी को विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता। यह नियम है कि प्राणी ज्यों—ज्यों असमर्थ होता जाता है, त्यों—त्यों जड़ता से उत्पन्न हुए बल का आश्रय लेता जाता है। इतना ही नहीं, बेचारा असमर्थ प्राणी बल का सदुपयोग भी नहीं कर पाता, अपितु उनके दुरुपयोग से अपना और दूसरों का विनाश ही करता है। इसी प्रमाद से समस्त संघर्षों का जन्म होता है।

जिसे वास्तविक सामर्थ्य प्राप्त है, उसे संग्रह की अपेक्षा नहीं होती और जिसे संग्रह की अपेक्षा नहीं होती, उसे प्राकृतिक नियमानुसार समस्त आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होती हैं। अथवा यों कहो कि वस्तुएँ उससे मिलकर अपने को धन्य मानती हैं। वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है, जिसे वस्तुओं की खोज नहीं है, अपितु वस्तुएँ जिसकी खोज में रहती हैं। कारण, कि आवश्यकता की पूर्ति अनन्त के विधान से स्वतः होती है। वस्तुओं की प्राप्ति को जो भौतिक—विज्ञानी अपना पुरुषार्थ मानता है, उससे यदि यह पूछा जाय कि जिस मस्तिष्क से उसने विज्ञान की खोज की है, वह मस्तिष्क किस प्रयोगशाला का आविष्कार है और किस यन्त्रालय में ढाला गया है ?

तो उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य विज्ञानवेत्ता में खोज से पूर्व थी। जिस अनन्त ने उसे वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य प्रदान की है, उसी अनन्त ने उसे विवेक भी प्रदान किया है। इस दृष्टि से सभी विज्ञान—वेत्ताओं को विज्ञान का उपयोग विवेक के प्रकाश में ही करना उचित है। ऐसा करने से प्राप्त बल का उपयोग निर्बलों की सेवा में होगा। यह नियम है कि सेवा—भाव का उदय संग्रह की रुचि का नाश कर देता है, जिसके नाश होते ही वस्तुओं की ममता मिट जाती है और जड़ता से उत्पन्न हुए बल का अभिमान गल जाता है। अभिमान के गलते ही स्नेह की एकता का संचार होने लगता है, जो समस्त संघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

वस्तुओं की ममता का त्याग वस्तुओं के सदुपयोग की प्रेरणा देता है, जिससे प्राणी को निर्लोभता प्राप्त होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने लगती हैं, क्योंकि अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त तत्त्व में असमर्थता तथा अभाव नहीं है, परन्तु संग्रह तथा लोभ के कारण अभाव—सा प्रतीत होने लगता है। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब निर्लोभता की अभिव्यक्ति हो जाए, जिसके लिए संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव करना अनिवार्य है। संग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव होने पर वस्तुओं की दासता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे, देह से भी सम्बन्ध नहीं रहता। पर देह तो जब तक रहनी है, रहती है, किन्तु उसमें सत्यता एवं सुन्दरता की प्रतीति नहीं रहती, जिसके न रहने पर काम का नाश हो जाता है और ऐसा होते ही यथेष्ट विश्राम स्वतः प्राप्त होता है। अथवा यों कहो कि लोभ तथा मोह से युक्त जो परिश्रम था, वह शेष नहीं रहता। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्राणी आलसी हो जाता है।

आलस्य और विश्राम में एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तु के चिन्तन में आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है,

वह वस्तुओं के चिन्तन से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, जिसे विश्राम प्राप्त है, उसके द्वारा प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगता है। अथवा यों कहो कि उसके चित्त में अशुद्धि की तो उत्पत्ति ही नहीं होती, और शुद्धि का अभिमान शेष नहीं रहता। यह नियम है कि निरभिमानता के आते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि—जनित सुख—लोलुपता प्राणी का वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ देती है। यद्यपि किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है और न उनके द्वारा उत्पन्न हुए सुख का अस्तित्व ही शेष रहता है। परन्तु सुख—भोग काल की सुखद स्मृति तथा वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध चित्त में अंकित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है। देहरूपी वस्तु से तादात्म्य स्वीकार करने पर ही अन्य वस्तु, व्यक्तियों की कामना उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी इच्छित वस्तुओं, व्यक्तियों से सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। परन्तु उन वस्तु और व्यक्तियों का वियोग—परिवर्तन अनिवार्य है। सबन्ध के कारण वस्तुओं का नाश तथा व्यक्तियों का वियोग हो जाने पर भी प्राणी वस्तु और व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता रहता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति—विनाशयुक्त है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। इतना ही नहीं, उत्पत्ति के साथ—साथ ही विनाश आरम्भ हो जाता है और संयोग के साथ ही वियोग। फिर भी प्राणी की दृष्टि वस्तुओं के विनाश और व्यक्तियों के वियोग पर नहीं रहती। अथवा यों कहो कि प्राणी वस्तुओं और व्यक्तियों को देखता है, पर उनकी वास्तविकता को नहीं।

यह सभी की अनुभूति है कि गहरी नींद के लिए प्राणी प्रिय—से—प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग कर देता है। प्राणी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नहीं, जिसके लिए वह निद्रा का त्याग कर सके। परन्तु निद्रा के लिए सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों

का त्याग करता ही है। इस दृष्टि से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध जाग्रत और स्वप्न अवस्था तक ही सीमित है। अर्थात् किसी भी वस्तु और व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उनके सम्बन्ध तथा अस्तित्व को चित्त में अंकित रखना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि प्राणी प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त से वस्तु और व्यक्तियों के अस्तित्व का त्याग कर दे, तो सुषुप्ति के समान जाग्रत में ही वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति प्राप्त हो सकती है। इतना ही नहीं, गहरी नींद में जो वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति है उसमें, और जो चित्त की वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित स्थिति है उसमें, एक बड़ा अन्तर यह है कि गहरी नींद की स्थिति में जड़ता का दोष है और जाग्रत की स्थिति उस दोष से रहित है। विषमता का अन्त दोनों ही में है। परन्तु जाग्रत की सुषुप्ति में जड़ता नहीं है, जिससे वस्तुओं से अतीत के जीवन में विश्वास तथा श्रद्धा हो जाती है, जिससे प्राणी वस्तुओं और व्यक्तियों के रहते हुए भी उनसे सम्बन्ध–विच्छेद करने में समर्थ होता है।

वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा से चित्त अशुद्ध नहीं होता। चित्त अशुद्ध होता है वस्तु और व्यक्तियों से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से, अथवा यों कहो कि वस्तु व्यक्तियों के संयोग में ही जीवन है, इसको स्वीकार करने से। यद्यपि वास्तविक जीवन वस्तु और व्यक्तियों के वियोग में ही निहित है, परन्तु देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी इस रहस्य से अपरिचित रहता है। अतः वस्तु और व्यक्तियों की दासता से रहित होने के लिए देहाभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

देहाभिमान में आबद्ध प्राणी संग्रह पराधीनता और परिश्रम में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार करता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान संग्रह की रुचि का नाश करने में समर्थ है। संग्रह की रुचि का अन्त होते ही पराधीनता एवं जड़ता स्वतः मिटने लगती है और स्वाधीनता तथा

चिन्मयता की लालसा जाग्रत होती है। स्वाधीनता की लालसा ज्यों–ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों पराधीनता–जनित वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस काल में पराधीनता की वेदना असह्य हो जाती है, उसी काल में पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही चिर–विश्राम स्वतः प्राप्त होता है।

पर श्रम की आसक्ति देहाभिमान से उत्पन्न होकर देहाभिमान को ही पुष्ट करती है। ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जिसका अन्त न हो और जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास न हो। प्राप्त शक्ति के सदुपयोग में भले ही परिश्रम का स्थान हो, परन्तु आवश्यक शक्ति का विकास तो विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से परिश्रम की सामर्थ्य विश्राम में है। परिश्रम के द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है, परन्तु परिश्रम के द्वारा वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश नहीं हो सकता। वस्तुओं का उत्पादन व्यक्तियों की सेवा के लिए अभीष्ट है और व्यक्तियों की सेवा उनसे मोह–जनित सम्बन्ध का विच्छेद करने के लिए साधनरूप है। परन्तु व्यक्तियों की सेवा वही प्राणी कर सकेगा, जो स्वयं व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा न करे। सुख–लोलुपता में आबद्ध प्राणी कभी–भी सेवा करने में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से सुख–लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है।

सुख–लोलुपता का अन्त वही कर सकता है, जिसे विश्राम प्राप्त हो। विश्राम आलस्य तथा परिश्रम दोनों से रहित है। इसी कारण विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है, जिन्होंने विवेकपूर्वक काम का अन्त कर देहाभिमान का नाश कर दिया है। ऐसी कोई गति नहीं जिसका उद्‌गम विश्राम न हो, ऐसी कोई स्थिति नहीं जो विश्राम से सिद्ध न हो और ऐसा कोई विचार नहीं जिसका उदय विश्राम में निहित न हों। विश्राम से जिस गति, स्थिति तथा विचार का उदय होता है वह अखण्ड होता है, क्योंकि वह श्रम से रहित है। इसी कारण विश्राम से प्राप्त स्थिति योग, विचार, बोध, गति तथा प्रीति है। अथवा यों कहो कि विश्राम के द्वारा जो सहज स्थिति है, उसी में योगियों के

योग की पराकाष्ठा है। और विश्राम से उदित जो अखण्ड ज्ञान है, उसी में तत्त्व—वेत्ताओं के तत्त्व की परावधि है। और विश्राम से जो स्वतः सिद्ध प्रगति है, वही प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति चिरविश्राम में ही निहित है। समस्त शान्ति तथा सामर्थ्य योग में, निस्सन्देहता तथा अमरत्व ज्ञान में और अगाध—अनन्त रस प्रेम में परिपूर्ण होता है।

योग ज्ञान तथा प्रेम—इसकी भूमि एक है। इस दृष्टि से रस में भेद होने पर भी तीनों का स्वरूप एक है, अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम में विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ये तीनों ही अनन्त की अभिव्यक्ति हैं, जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है। उस अनन्त से अभिन्न होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी संग्रह, पराधीनता और परिश्रम के राग से रहित होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर स्वाधीनता, अपरिग्रह और चिर—विश्राम द्वारा चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। पर यह तभी सम्भव हो सकता है, जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त की वर्तमान वस्तुस्थिति को जानकर उसकी शुद्धि के साधननिर्माण में समर्थ होता है।

१९—६—५६

२३

अहम्—भाव की निवृत्ति एवं भय—प्रलोभन से मुक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मान लेने पर ही प्राणी का चित्त अशुद्ध होता है। प्रलोभन के रहते हुए भय—रहित होना असम्भव है, क्योंकि प्रलोभन उस परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ देता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी नित्य प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण प्रलोभन अनेक प्रकार के भय उत्पन्न करता है। यह नियम है कि ज्यों—ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है, त्यों—त्यों प्रलोभन और बढ़ता जाता है, अर्थात् प्रलोभन से भय और भय से प्रलोभन की दृढ़ता होती है। भय और प्रलोभन में आबद्ध हो जाना ही चित्त की अशुद्धि है।

यह नियम है कि प्रलोभन का नाश होते ही भय स्वतः मिट जाता है, क्योंकि प्रलोभन की उत्पत्ति अविवेक—सिद्ध है, जो निज विवेक द्वारा सुगमतापूर्वक मिटाई जा सकती है। विवेक प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु को स्वतः प्राप्त है, क्योंकि विवेक के बिना सत्य की जिज्ञासा ही सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से प्रलोभन का अन्त करने में प्रत्येक जिज्ञासु सर्वदा स्वतन्त्र है। परन्तु कब ? जब प्राणी प्रलोभन तथा भय के नाश को वर्तमान का कार्य मान ले अर्थात् किसी प्रकार भी भय तथा प्रलोभन का द्वन्द्व सहन न कर सके। प्राकृतिक नियम के अनुसार असह्य वेदना की जागृति सफलता की कुञ्जी है। अतः प्रलोभन तथा भयरहित होना सम्भव है, क्योंकि सत्य की लालसा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है। लालसा कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सत्य के जिज्ञासु की

स्वाभाविक पुकार है, जिसे भय तथा प्रलोभन ने शिथिल कर दिया है।

भय और प्रलोभन की वास्तविकता का ज्ञान शिथिलता का अन्त कर लालसा को जाग्रत करने में समर्थ है। प्रलोभन में जीवन–बुद्धि स्वीकार करने से प्राणी प्रलोभन की वास्तविकता नहीं जान पाता, जिसके न जानने से प्रलोभन में सत्यता और प्रियता भासने लगती है, जो अनेक प्रकार के भय उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से प्रलोभन की वास्तविकता जानने के लिए उसमें जीवन–बुद्धि को अस्वीकार करना अनिवार्य है, अथवा यों कहो कि प्रलोभन जीवन नहीं है, अपितु प्रमादवश जीवन जैसा भासित होता है। प्रलोभन को प्रलोभन जान लेने मात्र से ही प्रलोभन मिट सकता है, क्योंकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह उसी समय तक भासित होता है, जब तक उसको जानने का प्रयास न किया जाय। यह नियम है कि जो नहीं है, उस पर सन्देह होने मात्र से ही उसकी सजीवता नाश हो जाती है, क्योंकि सन्देह में सम्बन्ध–विच्छेद करने की सामर्थ्य है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उससे यदि किसी प्रकार सम्बन्ध–विच्छेद हो जाए, अथवा यों कहो कि उसकी विस्मृति हो जाए तो वह स्वतः मिट जाता है।

जितने प्रलोभन होते हैं, उनके मूल में एकमात्र संकल्पपूर्ति के सुख का भोग और संकल्प–निवृत्ति की शान्ति में रमण करना है, अर्थात् सुख के भोग और शान्ति के रमण में ही समस्त प्रलोभन उत्पन्न होते हैं। संकल्प–पूर्ति के प्रलोभन ने ही प्राणी को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं में तथा परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में आबद्ध कर दिया है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गए हैं, क्योंकि प्रत्येक संकल्प–पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को सुख–दुःख में आबद्ध रखता है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों सुख का प्रलोभन बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों दुःख की उत्पत्ति भी स्वतः होती जाती है। कारण, कि सुख के आदि और अन्त में दुःख ही शेष रहता है। सुख–भोग का आरम्भ होते ही सुख

की क्षति होने लगती है और अन्त में सुख दुःख में बदल जाता है। सुख की उत्पत्ति भी दुख से ही होती है और उसका अन्त भी दुःख में ही होता है। इस रहस्य को जान लेने पर प्राणी सुख में भी दुःख का दर्शन कर सुख की दासता से मुक्त होने के लिए प्रयास करता है और फिर संकल्प–पूर्ति की अपेक्षा संकल्प–निवृत्ति को अधिक महत्त्व देता है। किन्तु संकल्प–निवृत्ति की शान्ति में भी अहम्भाव ज्यों–का–त्यों पुष्ट होता रहता है, क्योंकि शान्ति में रमण करने से भी परिच्छिन्नता ज्यों–की–त्यों सुरक्षित रहती है, जो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर प्राणी को भयभीत कर देती है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति तथा संकल्प–निवृत्ति दोनों से ही प्राणी प्रलोभन में आबद्ध होता है।

संकल्प–पूर्ति के प्रलोभन से ही संकल्प–विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। प्राणी प्रमाद–वश उत्पन्न हुए संकल्प–विकल्पों के द्वारा अपने को सुखी–दुःखी, भला–बुरा बनाता रहता है, अर्थात् संकल्पों के आधार पर ही अपना मूल्य आँकता है, अथवा यों कहो कि उन संकल्प–विकल्पों के प्रवाह को ही अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक संकल्प उत्पत्ति से पूर्व कुछ नहीं है और पूर्ति के पश्चात् भी कुछ नहीं है, परन्तु फिर भी बेचारा संकल्पों के अधीन हो जाता है। यहाँ तक कि एक–एक संकल्प–पूर्ति के लिए न जाने कितने काल तक बड़ी–बड़ी यातनाएँ भोगता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति का प्रलोभन निरर्थक ही सिद्ध होता है। संकल्प–पूर्ति के सुख की दासता का अन्त होते ही अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते और परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक और शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो होकर मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही संकल्प–निवृत्ति स्वतः आ जाती है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् निर्विकल्प स्थिति अपने आप आती है।

निर्विकल्प स्थिति में वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नहीं रहती, किन्तु बेचारा प्राणी असावधानी के कारण स्थिति–जनित

शान्ति में आबद्ध हो जाता है। यदि संकल्प–निवृत्ति का प्रलोभन न रहे, तो प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकल्प स्थिति से अतीत नित्य–चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है और फिर संकल्प–पूर्ति तथा संकल्प–निवृत्ति की दासता से रहित हो जाता है। अर्थात् सुख–शान्ति से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न हो जाता है। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति संकल्प–पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि उसके बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता, परन्तु उसी को जीवन मान लेना भूल है। निर्विकल्प स्थिति का प्रलोभन न रहने पर निर्विकल्प स्थिति स्वतः रहने लगती है, क्योंकि निर्विकल्प स्थिति संकल्प–पूर्ति की दासता और अपूर्ति के भय को खा लेती है। इस दृष्टि से संकल्प–निवृत्ति सभी अवस्थाओं से उत्कृष्ट अवस्था है।

भय तथा प्रलोभन के आधार पर ही सीमित अहम्भाव जीवित है। सुख की आशा और शान्ति की रुचि, भय तथा प्रलोभन को जीवित रखती है। सुख की आशा से किसी को यदि सुख मिलता, तो दुःख का कभी दर्शन ही नहीं होता। पर यह सम्भव नहीं है। प्राणी सुख की आशा करता है और परिणाम में दुःख भोगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। सुख की आशा से रहित होते ही प्राणी दुःख से छूट जाता है, अर्थात् उसके भय का नाश हो जाता है।

शान्ति की रुचि शान्ति से विमुख कर देती है। कारण, कि रुचि का अन्त होने पर ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, सुख की आशा तथा दुःख के भय के कारण ही शान्ति की रुचि उत्पन्न होती है। सुख की आशा तथा दुःख के भय का अन्त होते ही शान्ति की रुचि स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही चिरशान्ति अपने आप आ जाती है। सुख की आशा में दुःख का भय निहित है। यदि सुख की आशा न रहे तो दुःख का भय अपने आप मिट जाता है। निर्भयता आते ही प्रलोभन की दासता भी अपने आप मिट जाती है, अथवा यों कहो कि भय के मिटते ही प्रलोभन भी मिट जाता है।

भय और प्रलोभन का अन्त होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है अथवा यों कहो कि सीमित अहम्भाव के गल जाने पर भय तथा प्रलोभल अपने आप मिट जाता है।

सुख की आशा अविवेकसिद्ध है, जो विवेक द्वारा मिट सकती है, जिसके मिटते ही भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकपूर्वक सुख की आशा से रहित होने में अपने को असमर्थ पाता है, तो वह विकल्प रहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण कर अहम् और मम से रहित हो सकता है, जिसके होते ही समस्त भय तथा प्रलोभन मिट जाते हैं अथवा यों कहो कि निर्भयता और निश्चिन्तता अपने आप आ जाती है, जो किसी प्रकार के भय तथा प्रलोभन को उत्पन्न नहीं होने देती। प्रत्येक व्यक्ति में किसी–न–किसी अंश में विवेक तथा भाव–शक्ति विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि किसी में भाव की न्यूनता और विवेक की अधिकता हो और किसी में भाव की अधिकता और विवेक की न्यूनता हो, अर्थात् कोई मस्तिष्क–प्रधान होता है और किसी में हृदयशीलता अधिक होती है। मस्तिष्क–प्रधान प्राणियों को निज विवेक के प्रकाश में भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जान कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। ज्यों–ज्यों निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्थायी होती जाती हैं, त्यों–त्यों भय तथा प्रलोभन का अभाव होता जाता है, अथवा यों कहो कि निश्चिन्तता तथा निर्भयता की दृढ़ स्थापना होते ही भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं। भय तथा प्रलोभन की प्रतीति भले ही हो, पर उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जब विचारशील प्राणी विवेक–दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को देखता है, तब वे स्वतः सदा के लिए मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि विवेक–दृष्टि से किसी ने भय तथा प्रलोभन का दर्शन ही नहीं किया। वे उसी समय तक प्रतीत होते हैं, जब तक प्राणी विवेकपूर्वक उनका निरीक्षण नहीं करता। यह नियम है कि विवेकपूर्वक निरीक्षण करने पर भय तथा प्रलोभन मिट जाते हैं, क्योंकि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

हृदयशील प्राणियों को विकल्परहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। विकल्परहित विश्वास तभी सम्भव है, जब दो विश्वास न रहें, अर्थात् एक ही विश्वास जीवन हो जाए। यहाँ तक कि विश्वासी और विश्वास में विभाजन न हो सके, विश्वास ही विश्वासी का जीवन हो जाए। विश्वास उस पर नहीं करना चाहिए जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, द्वारा जानते हो। विश्वास उस पर होना चाहिए जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया। अब कोई कहे कि जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है, उस पर विश्वास कैसे हो सकता है ? विश्वास उसी पर होता है जो इन्द्रिय आदि का नहीं है। कारण, कि इन्द्रिय, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ जानने में आता है, उस पर तो सन्देह होता है। जिस पर सन्देह होता है उस पर विश्वास करना भूल है। इस दृष्टि से विश्वासपात्र वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है।

जब प्राणी उस पर विश्वास कर सकता है जिस पर अनेक सन्देह होते हैं, तो क्या उस पर विश्वास नहीं कर सकता जिस पर सन्देह सम्भव ही नहीं है ? क्योंकि सन्देह उस पर हो सकता है जिसमें दोष का दर्शन हो और दोष का दर्शन उसमें होता है जो द्वन्द्वात्मक हो, अर्थात् जिसके विषय में इन्द्रिय और बुद्धि के निर्णय में भिन्नता हो। जिससे सभी को सत्ता तथा प्रकाश मिलता है वह इन्द्रिय आदि का विषय नहीं हो सकता। अतः जो इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है वही विश्वास—पात्र है। अनेक विश्वास निकल जाने पर एक विश्वास स्वतः रह जाता है, यह नियम ही है। इस दृष्टि से एक विश्वास में कोई क्षति नहीं हो सकती। विश्वास सम्बन्ध को और सम्बन्ध आत्मीयता, अर्थात् प्रीति को उदय करता है। प्रीति का उदय होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होने पर समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि काम की भूमि में ही प्रलोभन तथा भय उत्पन्न होते हैं। एक विश्वास वस्तु आदि के विश्वास को खाकर पुष्ट होता है, जिसके पुष्ट होते ही स्वभाव से ही निर्भयता एवं निश्चिन्तता आ जाती है, जिसके आते ही अनन्त

की कृपाशक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती है, और फिर प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन से रहित हो जाता है।

विवेक और विश्वास दोनों ही स्वतन्त्र साधन हैं। दोनों ही के द्वारा प्राणी काम—रहित होकर सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन का अन्त कर सकता है। अन्तर केवल इतना है कि विचारशील प्रतीत होने वाले भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जानकर, प्रलोभन से व्यथित होकर उस अनन्त को पुकारने लगता है जिसे कभी जाना नहीं था। दुःखी की पुकार में वही सामर्थ्य हैं जो विचारशील के विचार में है। दुःखी प्राणी में स्वभाव से ही निर्भरता आ जाती है, जिसके आते ही अहम् और मम अपने आप गल जाता है, जिससे समस्त भय तथा प्रलोभन स्वतः मिट जाते हैं।

यदि किसी की विचार और विश्वास दोनों ही में श्रद्धा हो तो उसे विचार का उपयोग शरीर, इन्द्रिय आदि समस्त दृश्य पर अथवा अपने व्यक्तित्व पर करना चाहिए और विश्वास का उपयोग उस अनन्त पर करना चाहिए, जिसे बुद्धि आदि के द्वारा कभी नहीं जाना जाता, अथवा यों कहो कि विचार के द्वारा समस्त वस्तुओं की आसक्ति से रहित हो जाय और विश्वास के द्वारा अपने को समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। इस प्रकार विश्वास और विचार का अपने—अपने क्षेत्र में उपयोग कर विचार द्वारा समस्त आसक्तियों का अन्त और विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

समस्त आसक्तियों का अन्त होने पर भी प्राणी काम—रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम—रहित हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्—भाव अपने आप गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते हैं और चित्त—शुद्ध हो जाता है।

२०—६—५६

२४

अनन्त के विधान—विवेक का आदर

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

प्राणी—मात्र को विवेक, सामर्थ और वस्तु प्राप्त है। विवेक उस अनन्त का विधान है। जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य और वस्तु का उपयोग उस विधान के विपरीत करने लगता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी का अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं। अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करने का दायित्व अपने ही पर है। अतः प्राप्त विधान के अनुरूप ही प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु का उपयोग कर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। चित्त—शुद्धि वर्तमान की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड़ना असावधानी है। चित्त की अशुद्धि के रहते हुए प्राणी अपने साधन और साध्य दोनों से ही विमुख हो जाता है। साधन और साध्य की विमुखता में ही असाधन की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम प्राणी को चित्त में अंकित अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है, क्योंकि असाधन, अर्थात् अकर्त्तव्य के अभाव में ही कर्त्तव्य—परायणता निहित है। ज्यों—ज्यों कर्त्तव्य—परायणता स्थायी होती जाती है, त्यों—त्यों प्राणी का चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है, क्योंकि कर्त्तव्य—परायणता राग—द्वेष का अन्त करने में समर्थ है, अथवा यों कहो कि कर्त्तव्य—परायणता आ जाने पर त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सामर्थ्य तथा वस्तु का समूह है। वस्तु और सामर्थ्य में इतना भेद है कि वस्तु व्यक्त है और सामर्थ्य

अव्यक्त है। अव्यक्त सामर्थ्य का उपयोग व्यक्त वस्तु के आश्रय से ही हो सकता है। इस दृष्टि से वस्तु और सामर्थ्य में केवल गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है। वे दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं, गुणों की भिन्नता के कारण अलग–अलग भासित होते हैं। दोनों का अलग–अलग स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विवेकरूपी विधान का प्रकाश बुद्धि को प्रकाशित करता है। बुद्धि के प्रकाश से मन में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। मन की क्रियाशीलता से ज्ञानेन्द्रियों में गति होती है और ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय से कर्मेन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं।

विधान स्वयं कर्त्ता हो नहीं सकता और जो कार्य करने के साधन हैं, उनमें कर्त्तापन की स्थापना सम्भव नहीं, क्योंकि लेखनी लेखक नहीं हो सकती, अर्थात् करण कर्त्ता नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि कर्त्ता कौन है ? कर्त्ता वही हो सकता है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अपने को तद्रूप कर लेता है, अथवा शरीर इन्द्रिय आदि को अपना मानता है। उस कर्त्ता में जब काम की उत्पत्ति हो जाती है, तब कामना–पूर्ति के प्रलोभन से प्रेरित होकर बेचारा वस्तु तथा सामर्थ्य का दास हो जाता है। यहाँ तक कि सामर्थ्य और वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि मिथ्या व्यक्तित्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही व्यक्ति और समाज में भेद की उत्पत्ति होती है। भेद की उत्पत्ति अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न करने में हेतु है।

वस्तु और सामर्थ्य के समूह को अपना अस्तित्व स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सब कुछ अनन्त की अभिव्यक्ति ही है, अर्थात् व्यक्तिगत कुछ नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो समष्टि से सत्ता न पाती हो और ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है जो समष्टि शक्तियों से अभिन्न न हो। केवल व्यक्तित्व का अभिमान ही एक ऐसी प्रतीति है, जो भासित तो होती है, परन्तु उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तित्वहीन अहम्भाव ने ही कर्त्ता को करण से तद्रूप कर दिया है। यदि करण का विभाजन करके

कर्त्ता की खोज की जाए, तो उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिलता। परन्तु करण और कर्त्ता के मध्य में काम ही एक ऐसी प्रतीति है, जो कर्त्ता और करण के सम्बन्ध को सुरक्षित रखती है, अर्थात् काम की भूमि में जो कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनके द्वारा ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है और फिर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति–जनित सुख–दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

बुद्धि तथा इन्द्रिय–ज्ञान से जो स्थूल वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उस स्थूल भाग को ही वस्तु के नाम से कह सकते हैं और इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि को सामर्थ्य के नाम से कह सकते हैं। यद्यपि अपने स्तर पर इन्द्रियाँ दो भागों में विभाजित हो जाती हैं–कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति का भाग है और ज्ञानेन्द्रिय इच्छाशक्ति का भाग है। मन में ये दोनों भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राण का भाग है और इच्छाशक्ति ज्ञान का भाग है। मन इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का समूह है इसी कारण प्राण के निरोध से मन में स्थिरता और मन के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। प्राण और मन में बड़ी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञान का प्रतीक है, इसी कारण बुद्धि का निर्णय मन को मान्य होता है। बुद्धि और विवेक के मध्य में जो अहंभाव है, उसी में काम का निवास है इसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनों अहम्भाव में निवास करती हैं। कामनापूर्ति के लिए अहम् बुद्धि के अधीन और बुद्धि मन के, मन इन्द्रियों के और इन्द्रियाँ विषयों के अधीन हो जाती है; जिससे बेचारा प्राणी जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है। परन्तु जब जड़ता, पराधीनता आदि की वेदना स्वभाव से जाग्रत होती है, तब कामनानिवृत्ति की लालसा उत्पन्न होती है, जो इन्द्रिय–ज्ञान में सन्देह उत्पन्न कर देती है। ज्यों–ज्यों सन्देह की वेदना दृढ़ होती जाती है, त्यों–त्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है। ज्यों–ज्यों जिज्ञासा सबल होती जाती है, त्यों–त्यों कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। कामनाओं का अन्त होते ही सन्देह की

निवृत्ति और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति उदय होती है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त आसक्तियाँ गल कर प्रीति में विलीन हो जाती हैं और फिर सीमित अहम्भाव का नाश हो जाता है, जिसके होते ही प्रीति अनन्त से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती।

विवेकरूपी विधान से ही बुद्धि एवं इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य मिलती है। यद्यपि बुद्धि और इन्द्रिय का ज्ञान भी ज्ञान जैसा ही प्रतीत होता है, परन्तु इन्द्रिय या बुद्धि का ज्ञान सन्देह रहित नहीं होता, अर्थात् बुद्धि या इन्द्रिय—ज्ञान के आधार पर प्राणी निस्सन्देह नहीं हो सकता। जिससे निस्सन्देहता प्राप्त न हो सके, उसे ज्ञान मान लेना अज्ञान को ज्ञान का स्थान देना है, अथवा यों कहो कि इन्द्रिय या बुद्धि के अल्प ज्ञान को पूरा ज्ञान मानना है। ऐसी मान्यता का निज—विवेक में विरोध है। इस दृष्टि से विवेक बुद्धि और इन्द्रिय की अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है, अथवा यों कहो कि उस अनन्त का विधान है। अनन्त के विधान का आदर और अनुसरण अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विवेक को विधान, बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य और इन्द्रिय आदि जिसके आश्रय से सक्रिय होते हैं, उसे वस्तु मानना चाहिए। जब प्राणी प्रमादवश वस्तु को सामर्थ्य और सामर्थ्य को ज्ञान मान लेता है, तब विवेक का अनादर होने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति में, जिज्ञासा कामनापूर्ति के साधन में और सेवा स्वार्थ—भाव में बदल जाती है, जिसके बदलते ही काम, कामना ओर भोगप्रवृत्ति में ही जीवन—बुद्धि भासने लगती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

विवेकरूपी विधान में कर्त्तव्यविज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विद्यमान हैं। यदि प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर न करे, तो अकर्त्तव्य, भोग और मिथ्या अहम्भाव की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। अहंभाव की उत्पत्ति के बिना काम का जन्म ही नहीं हो सकता और काम की

उत्पत्ति के बिना कामनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं है। कामनाओं की पूर्ति के बिना भोग और भोगासक्ति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। भोगासक्ति के बिना स्वार्थभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और स्वार्थभाव के बिना पराधीनता, संकीर्णता, जड़ता आदि विकारों में प्राणी आबद्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से विवेकरूपी विधान का अनादर ही समस्त दोषों का मूल है।

विवेक का अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहम्भाव उत्पन्न करता है, जिससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है, अर्थात् प्राणी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है। कर्त्ताभाव में–से ही कर्म की रुचि और फल की आशा उत्पन्न होती है, जिसके होते ही कर्त्ता भोक्ता होकर अपने में भोग की रुचि और भोग्य वस्तुओं की आसक्ति उत्पन्न कर लेता है। भोगासक्ति भोक्ता में स्वार्थभाव उत्पन्न कर देती है, जिससे उसका व्यक्तित्व कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव का समूह बन जाता है। भोक्ता, भोगवासना और भोग्य वस्तुओं में गुणों का भेद और स्वरूप की एकता है, अर्थात् ये तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं। भोग्य वस्तुओं के विनाश का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है और विवेक का आदर करने पर भोग वासनाओं का अन्त हो ही जाता है, जिसके होते ही 'मैं भोक्ता हूँ'–यह स्वीकृति स्वतः मिट जाती है। उसके मिटते ही भोक्ता, भोग–वासना और भोग्य वस्तुओं की भिन्नता शेष नहीं रहती। अथवा यों कहो कि वस्तु, सामर्थ्य और विवेक का एकता होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही काम का नाश हो जाता है और फिर कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव तीनों ही दोष मिट जाते हैं, अर्थात् स्वार्थ सेवा–भाव में, कामना जिज्ञासा में और आसक्ति प्रीति में बदल जाती है, जिसके बदलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

विवेक का आदर करते ही प्रीति की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा की जाग्रति और सेवा में प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। सेवा में समस्त कर्त्तव्य–विज्ञान, जिज्ञासा की जागृति में अध्यात्म–विज्ञान और प्रीति

की अभिव्यक्ति में आसक्ति–विज्ञान निहित है। सेवा की पूर्णता रागरहित होने में है। रागरहित होते ही भोग योग में बदल जाता है। योग–विज्ञान शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता का प्रतीक है। इसी कारण ज्यों–ज्यों योग–विज्ञान का आदर होता जाता है त्यों–त्यों कर्त्तव्यपालन की सामर्थ्य और निष्कामता अपने आप उदित होती है। निष्कामता प्राणी को अधिकार–लालसा से रहित कर देती है। कर्त्तव्यपरायणता दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् प्राणी राग–रहित हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य–विज्ञान और योग–विज्ञान में अत्यन्त घनिष्टता है। क्योंकि कर्त्तव्य–परायणता से प्राणी योग–विज्ञान का अधिकारी हो जाता है और योग–विज्ञान कर्त्तव्य–परायणता की सामर्थ्य प्रदान करता है। इतना ही नहीं, योग–विज्ञान की पूर्णता निस्सन्देहता एवं स्वाधीनता की ओर अग्रसर कर अध्यात्म–विज्ञान का अधिकारी बना देती है। अध्यात्म–विज्ञान में पराधीनता, जड़ता एवं सन्देह का अभाव करने की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। अतः अध्यात्म–विज्ञान द्वारा प्राणी निस्सन्देहता, स्वाधीनता, चिन्मयता से अभिन्न हो जाता है, जिसके होते ही आस्तिक–विज्ञान में स्वतः प्रवेश हो जाता है, जो प्रेम से परिपूर्ण है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता योग में, योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम की अभिव्यक्ति में निहित है।

विवेक जिस अनन्त का विधान है, सामर्थ्य और वस्तु भी उसी की अभिव्यक्ति है। अतः विवेक के प्रकाश में ही सामर्थ्य तथा वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्त्तव्य का जन्म होता है। अतः साधक के जीवन में अविवेक का, अर्थात् विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही अपने स्वभाव से विवश होकर प्राणी को विवेक, सामर्थ्य तथा वस्तु प्रदान की है और अपने को

इतना छिपाया है कि प्राणी प्राप्त विवेक सामर्थ्य और वस्तु को अपनी ही मानता है। यह नहीं जानता कि अपनी कृपा से आप मोहित होकर उस अनन्त ने सभी को सब कुछ दिया है। भला, इस उदारता पर कौन ऐसा होगा, जो अपने को निछावर न कर सके, अर्थात् उसी की प्रीति होकर न रहे, जिसकी यह अनुपम, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय उदारता है।

अब यदि कोई यह कहे कि तुम जिसे उदारता मानते हो, वह तो प्राकृतिक विधान है। तो भी यह स्पष्ट हो ही जाता है कि जिसका विधान इतना सुन्दर है, वह न जाने कितना सुन्दर होगा ! भला, उसका प्रेमी होने में किसे आपत्ति तथा हिचक हो सकती है, अर्थात् किसी को भी नहीं। उसकी प्रीति बिना हुए आसक्तियों का अन्त सम्भव नहीं है। उसकी जिज्ञासा के बिना कामनाओं का अन्त हो ही नहीं सकता और प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा उन्हींके नाते सेवा करने पर ही स्वार्थ–भाव गल सकता है। इस दृष्टि से प्रीति, जिज्ञासा और सेवा ही चित्त–शुद्धि की मुख्य साधना है, जिसकी अभिव्यक्ति विवेक के आदर में निहित है। जब तक साधक में साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक साधन में स्वाभाविक अभिरुचि, अर्थात् नित–नव प्रियता नहीं होती, जिसके हुए बिना साधन में अस्वाभाविकता और असाधन में स्वाभाविकता प्रतीत होती है। अर्थात् कर्त्तव्य–परायणता में कठिनता और अकर्त्तव्य में सुगमता प्रतीत होती है, जो वास्तव में चित्त की अशुद्धि है। अतः प्रीति, जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा चित्त–शुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, जो विवेक–सिद्ध है।

२१–६–५६

२५

वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने से, उनको अपना मानने से और उनका दुरुपयोग करने से चित्त अशुद्ध होता है। यदि अपने से भिन्न की स्वीकृति न होती, तो चित्त कभी अशुद्ध न होता। अब विचार यह करना है कि अपने से भिन्न की स्वीकृति का मूल कारण क्या है ? जब प्राणी किसी प्रतीति तथा मान्यता को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसमें अपने आप परिच्छिन्नता की सत्यता दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद की उत्पत्ति से चित्त अशुद्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर काम तथा मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने में निज अनुभूति का विरोध है, परन्तु प्राणी प्रमादवश अपनी अनुभूति का आदर नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि देह में ही अहम्बुद्धि दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक दोष अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि प्राणी कभी तो अपने को देह मानता है और कभी देह को अपनी मानता है। अर्थात् अहम् और मम दोनों की स्थापना देह में कर लेता है। अहम् की स्थापना करके देह से भिन्न बाह्य वस्तु में ममता करता है और देह के प्रति ममता करके अपने को किसी मान्यता विशेष में आबद्ध करता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता में परिच्छिन्नता की स्वीकृति स्वतः सिद्ध प्रतीत होने लगती है। यद्यपि प्राणी में आवश्यकता

स्वभाव से ही अनन्त से अभिन्न होने की है, क्योंकि कोई भी अपने को सीमित होकर सदैव नहीं रखना चाहता। परन्तु मान्यता में अस्तित्व–बुद्धि स्वीकार करने से काम की उत्पत्ति होती है, जिससे स्वाभाविक आवश्यकता में शिथिलता आ जाती है और अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो वस्तुओं से सम्बन्ध दृढ़ कर देती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के अस्तित्व की स्वीकृति तथा उनसे सम्बन्ध स्वाभाविक आवश्यकता के प्रमाद से, अथवा निज अनुभूति के विरोध को सहन करने से होता है।

यह नियम है कि स्वाभाविक आवश्यकता की विस्मृति भले ही हो जाए, पर उसका नाश नहीं होता। स्वीकृति में सत्यता तथा प्रियता भले ही प्रतीत होती हो, परन्तु उसका अस्तित्व नहीं होता, अर्थात् अस्तित्वहीन स्वीकृति प्राणी को न जाने कितना नाच नचाती है, अथवा यों कहो कि अनेक प्रकार के संघर्षों में आबद्ध कर देती है।

समस्त स्वीकृतियों के मूल में क्या है, इसका निर्णय उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक कि समस्त स्वीकृतियों का अन्त अस्वीकृति द्वारा न कर दिया जाय। ऐसी कोई स्वीकृति हो ही नहीं सकती, जिसमें परिवर्त्तन तथा अभाव न हो। समस्त स्वीकृतियाँ दो प्रकार से उत्पन्न होती हैं–एक तो श्रवण के आधार पर और एक अपने को देह मान लेने पर। श्रवण से पूर्व प्राणी अपने को क्या मानता था, इसका उसे पता नहीं और देह की तद्रूपता से पूर्व किसके साथ तादात्म्य था, इसे भी बेचारा प्राणी जानता नहीं। परन्तु निज विवेक द्वारा वह यह अवश्य जानता है कि "देह मैं नहीं हूँ", क्योंकि जो 'यह' है वह 'मैं' हो ही नहीं सकता। 'मैं' क्या है ? यह प्रश्न उत्पन्न होकर "मैं देह नहीं हूँ", इस निर्णय तक प्राणी को पहुँचा देता है। परन्तु बेचारा प्राणी सन्देह की वेदना को न सहने के कारण जब अपने को किसी मान्यता से अभिन्न कर लेता है, तब देह को अपना मानकर देह के नाते देश, समाज, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, दल आदि मान्यताओं से बँध जाता है और देह की भाँति ही सबको अपना मानने लगता है। परन्तु उसकी स्वाभाविक आवश्यकता विभु

होने की है, इस कारण किसी भी सीमा में अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि को अपना मानने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता और फिर उसमें यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न हो जाता है कि 'वास्तव में मेरा कौन है और मैं क्या हूँ ?' यह मूल प्रश्न उस समय तक हल हो ही नहीं सकता, जब तक प्राणी किसी को भी अपना मानता है और अपने को कुछ मानता है। कारण, कि विकल्प–रहित मान्यता वास्तविकता की भाँति ही सत्य प्रतीत होती है। अतः मान्यता के रहते हुए वास्तविकता का बोध सम्भव ही नहीं है।

मैं और मेरा ज्यों–ज्यों विभु होता जाता है, त्यों–त्यों व्यक्तिगत सुख–दुःख निर्जीव होता जाता है, जिससे प्राणी के जीवन में करुणा, उदारता, क्षमा, समता, मुदिता आदि सद्गुणों की अभिव्यक्ति होती जाती है। किन्तु वे गुण किसके हैं ? कहाँ से आए हैं ? यह समस्या ज्यों–की–त्यों रहती है। यद्यपि सद्गुणों के आधार पर व्यक्ति को आदर, प्यार और आवश्यक वस्तुएँ बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिलने लगती हैं, पर अपने सम्बन्ध में व्यक्ति सन्देह–रहित नहीं हो पाता और किसी–न–किसी गुण–दोष और मान्यता के आधार पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहता है अथवा यों कहो कि व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है।

व्यक्तित्व का अभिमान समस्त दोषों का मूल है। कारण, कि उसके रहते हुए अनन्त से अभिन्नता अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। अनन्त से अभिन्न हुए बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक कामनाओं की निवृत्ति हो ही नहीं सकती और स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध के बिना अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है। यद्यपि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे देश–काल की दूरी हो नहीं सकती। परन्तु जो मान्यता तथा सम्बन्ध अस्तित्वहीन है, वह स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध में आवरण बन गया है। उस आवरण का नाश तभी हो सकता है, जब अस्तित्वहीन मान्यता को विवेकपूर्वक अस्वीकार कर दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि अस्वीकार करने पर भी स्वीकृति ज्यों–की–त्यों प्रतीत होती है। ऐसी दशा में स्वीकृति के अनुसार अपने पर जो दूसरों का अधिकार है, उसकी यथाशक्ति रक्षा की जाए और दूसरों पर जो अपना अधिकार है, उसका त्याग कर दिया जाए। यह नियम है कि जिसको जो देना है, वह देने पर और जिससे लेना है, उससे न लेने पर अपने आप सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वीकृति अपने आप मिट जाती है, जिसके आधार पर सम्बन्ध की स्थापना हुई थी। सम्बन्ध कितना ही पुराना क्यों न हो, विच्छेद होते ही सदा के लिए मिट जाता है। यह नियम है कि सम्बन्ध न रहने पर जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और जो अस्तित्वहीन है उसका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही अनन्त से अभिन्नता और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है। और फिर जो मूल प्रश्न है कि "मेरा कौन है और मैं क्या हूँ ?" वह अपने आप हल हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

मान्यता में सत्यता और वस्तुओं की ममता एक–मात्र लेन–देन के आधार पर ही जीवित है। जिसे किसी से कुछ लेना नहीं है और जो प्राप्त है वह देकर देने की रुचि का अन्त कर देता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक उससे अभिन्न हो जाता है, जो समस्त मान्यताओं से पूर्व था और सदैव है, अर्थात् जो देश–काल की दूरी से रहित है। देने की रुचि का अन्त तभी हो सकता है, जब प्राणी देने के अभिमान से और लेने की आशा से रहित हो जाय, अर्थात् दी हुई वस्तु को उसी की जाने, जिसको दी है। अपनी मानकर देने से लेने की आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेने की आशा रहते हुए देने की बात कहना ईमानदारी नहीं है, अथवा यों कहो कि देने के रूप में लेना ही है, देना नहीं। इतना ही नहीं, उस प्राणी का लेना भी देना हो जाता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता। जिसे अपने में अपना कुछ भी प्रतीत होता है, उसका देना भी लेना है, अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई

सेवा भी स्वार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने विवेक—दृष्टि से अपने में अपना कुछ नहीं पाया, अपितु सभी में उसी को पाया जो सर्वदा सभी का सब कुछ है। जो सभी का सब कुछ है, प्रत्येक प्राणी को सर्वदा उसी का होकर रहना है।

यह नियम है कि जो जिसका होकर रहता है, उसमें उसी की सत्यता एवं प्रियता अंकित हो जाती है और उससे भिन्न की स्वीकृति ही शेष नहीं रहती। अस्वीकृति से उसी का नाश होता है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और सत्यता तथा प्रियता उसी की सुरक्षित रहती है जिससे स्वरूप की एकता है, उससे चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु चित्त में उसी के प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। यहाँ तक कि चित्त है या प्रेम है यह कहते नहीं बनता, अर्थात् प्रेम से भिन्न चित्त का कोई अस्तित्व ही नहीं भासता, क्योंकि यह प्रेम का स्वभाव ही है कि उसकी अभिव्यक्ति जिसमें होती है वह भी प्रेम ही हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में न तो सुख की आशा ही रहती है और न जड़ता, जिसके न रहने से चित्त की अशुद्धि अपने आप मिट जाता है।

चित्त में अशुद्धि उसी समय तक रहती है, जिस समय तक प्राणी वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता, अथवा उनकी ममता से रहित नहीं होता, अथवा प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का त्याग नहीं करता। वस्तुओं के चिन्तन का त्याग किये बिना वस्तुओं की आसक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। वस्तुओं की आसक्ति वस्तुओं का सदुपयोग नहीं करने देती। वस्तुओं के सदुपयोग किए बिना न तो व्यक्तियों की सेवा ही होती है और न वस्तुओं की ममता का ही नाश होता है। वस्तुओं की ममता से रहित हुए बिना व्यक्ति में निर्लोभता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, जिसके बिना हुए दरिद्रता अपने आप आ जाती है, जो बेचारे प्राणी को अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा व्यक्तियों की सेवा बिना किये न तो निर्मोहता की ही अभिव्यक्ति होती है और न संग्रह की

रुचि ही नष्ट हो पाती है। निर्मोहता के बिना प्राणी न तो मृत्यु के भय से ही रहित होता है ओर न अमरत्व से ही उसकी अभिन्नता होती है। संग्रह की रुचि प्राणी को जड़ता और संकीर्णता में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियों की सेवा से तो मोह की वृद्धि होगी। पर बात ऐसी नहीं है। कारण, कि मोह की वृद्धि तो व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा करने पर होती है, सेवा से नहीं। व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित कर देती है, क्योंकि सेवा वही कर सकता है, जो सुख की आशा से रहित है। सुख की आशा से रहित होने पर मोह की गंध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित करने में समर्थ है।

व्यक्तियों के मोह से रहित होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, क्योंकि किसी भी दोष का अभाव होने पर सभी दोष मिट जाते हैं। कारण, कि एक ही दोष स्थान–भेद से अनेक रूपों में प्रतीत होता है। वस्तुओं की ममता लोभ को और उनका दुरुपयोग मोह को उत्पन्न करता है। अतः न तो वस्तुओं से ममता ही करना है और न उनका दुरुपयोग ही। वस्तुओं के सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः मिलने लगती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि निहित है और वस्तुओं के सदुपयोग में ही परस्पर में स्नेह की वृद्धि तथा मोह की निवृत्ति होती है। अतः प्रत्येक दृष्टि से वस्तुओं का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्लोभता तथा निर्मोहता की अभिव्यक्ति होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके हो जाने पर वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में समस्त दोषों का अन्त और वस्तुओं से अतीत के जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन का त्याग प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग वस्तुओं की ममता से रहित करने में समर्थ है। वस्तुओं की ममता का अभाव निर्मोहता एवं

निर्लोभता की अभिव्यक्ति में हेतु है। क्योंकि देहरूपी वस्तु की ममता का अभाव निर्मोहता और अन्य सभी वस्तुओं की ममता का अभाव निर्लोभता है, जो जड़ता और परिच्छिन्नता का अन्त करता है, जिसके होते ही निष्कामता, उदारता, चिन्मयता और अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य—जीवन से साधक की अभिन्नता हो जाती है। अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में ही स्वाधीनता तथा अपना महत्त्व निहित है।

स्वाधीनता तथा अपने महत्त्व में ही सन्तुष्ट न होने से अनन्त से अभिन्नता स्वतः हो जाती है, जो वास्तविकता है, अथवा यों कहो कि जीवन अनन्त का प्रेम हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही समस्त अभावों का अभाव है। कारण, कि प्रेम से भेद, भिन्नता, नीरसता आदि समस्त दोषों का अन्त हो जाता है। अतः वस्तुओं का सदुपयोग, उनकी ममता का त्याग एवं उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ करना अनिवार्य है।

२२—६—५६

२६

कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जब तक प्राणी की दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य तथा उदारता पर लगी है, तब तक उसका चित्त अशुद्ध रहता है। कारण, कि पराधीन प्राणी का चित्त शुद्ध नहीं रह सकता, अर्थात् पराधीनता अशुद्धि की जननी है। 'पर' की प्रतीति ही प्राणी में अधिकार–लालसा तथा भोगासक्ति को जन्म देती है। अधिकार–लालसा और भोग की आसक्ति में आबद्ध प्राणी के चित्त में सर्वदा किसी–न–किसी अंश में खिन्नता ही निवास करती है। खिन्नता काम की जननी है और काम पराधीनता का मूल है। इस दृष्टि से पराधीनता अशुद्धि की जननी है। अथवा यों कहो कि काम के साम्राज्य में कोई भी स्वाधीन नहीं रहा और स्वाधीनता के बिना किसी को चिर–शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता एवं नित–नूतन रस की प्राप्ति नहीं हुई। शान्ति के बिना सामर्थ्य, प्रसन्नता के बिना सामर्थ्य का सदुपयोग और नित–नूतन–रस के बिना काम का नाश हो सकता, उसके बिना चित्त अशुद्ध ही रहता है।

निज–विवेक के अनादर से ही देहाभिमान पुष्ट होता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान में सत्यता तथा प्रियता भासित होती है, जिससे 'पर' की प्रतीति स्वतः होने लगती है, जिसके होते ही प्राणी में अधिकार–लालसा उत्पन्न होती है, जो उसे दूसरों के कर्त्तव्य पर निर्भर कर देती है। क्योंकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य निहित है। इस कारण अधिकार की दासता रहते हुए कोई भी प्राणी स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। यद्यपि

स्वाधीनता की माँग प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु अधिकार—कामना ने उसकी पूर्ति नहीं होने दी। इस दृष्टि से जो प्राणी अपने अधिकार का त्याग नहीं कर सकता, उसे किसी भी प्रकार स्वाधीनता नहीं मिल सकती। स्वाधीनता के बिना न तो कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है और न उनके जीवन में प्रेम की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता प्राप्त किए बिना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग भी नहीं कर सकता। वस्तुओं के सदुपयोग के बिना वस्तुओं का अभाव नहीं मिट सकता। सामर्थ्य के सदुपयोग के बिना असमर्थता का अन्त नहीं हो सकता और योग्यता के सदुपयोग में ही आवश्यक ज्ञान—विज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है।

स्वाधीनता कर्त्तव्यपालन में है, अधिकार माँगने में नहीं। स्वाधीनता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है, परिस्थिति—परिवर्तन में नहीं प्राप्त सुख के वितरण में है, सुख की आशा में नहीं। इतना ही नहीं, राग—द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग और प्रेम की प्राप्ति में भी प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। इसके अतिरिक्त और कहीं स्वाधीनता है नहीं।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है, अपितु सभी का हित है। इस दृष्टि से प्राणी का विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। पर परिस्थिति का सदुपयोग वे ही प्राणी कर सकते हैं, जो परिस्थिति में जीवन—बुद्धि नहीं रखते, अपितु परिस्थिति को साधन—सामग्री ही जानते हैं। परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील है। जो परिवर्तनशील है उसके परिवर्तन का प्रयास करना प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है। इतना ही नहीं, जो सामर्थ्य प्राणी को परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिली थी, उसका व्यय अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में, अथवा परिस्थिति के परिवर्तन में करना उसका दुरुपयोग है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है, अर्थात् प्राणी सामर्थ्य के दुरुपयोग से न तो प्रतिकूलता का ही अन्त कर सकता है और न उसे अनुकूलता ही प्राप्त होती है।

ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं सकती, जो सर्वांश में अनुकूल हो, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय प्राणी को परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करने देते, जिसके बिना किए न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होता है। प्राकृतिक नियम के अुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अंग है, क्योंकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओं का उदारतापूर्वक सदुपयोग नहीं होता।

वस्तुओं के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हुए बिना वस्तुओं की दासता का अन्त नहीं हो सकता और वस्तुओं के सदुपयोग के बिना परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना संघर्ष मिट नहीं सकता। अथवा यों कहो कि स्नेह की एकता में ही भेद तथा भिन्नता का नाश और सुन्दर समाज का निर्माण एवं चिरशान्ति की स्थापना निहित है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही में प्राणी का हित है। अतः अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय चित्त से सदा के लिए निकाल देना अनिवार्य है, जिसके निकलते ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर पराधीनता शेष नहीं रहती, जिससे चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है।

अधिकार—लालसा से रहित प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता है और कर्त्तव्यपरायणता में ही विद्यमान राग की निवृत्ति है। अधिकार—लालसा में आबद्ध प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कारण, कि अधिकार की अपूर्ति उसे क्षोभित तथा क्रोधित कर देगी और अधिकार की पूर्ति उसमें नवीन राग उत्पन्न कर देगी। इस दृष्टि से अधिकार—लालसा के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता निहित है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है और क्रोधित होने पर कर्त्तव्य की विस्मृति अर्थात् कर्त्तव्य के ज्ञान की

स्मृति आच्छादित हो जाती है। सामर्थ्य के ह्रास और कर्त्तव्य के ज्ञान की विस्मृति में कर्त्तव्यपरायणता सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्त्तव्य के ज्ञान तथा सामर्थ्य के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्यपालन सम्भव है, परन्तु जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान का सदुपयोग नहीं करता, तब कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। राग–निवृत्ति के लिए ही कर्त्तव्य अपेक्षित है। अतः नवीन राग की उत्पत्ति भी प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होने देती। इस दृष्टि से अपने अधिकार का त्याग किये बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्य–निष्ठ नहीं हो सकता। अधिकार के नाम पर कर्त्तव्य की बात कहना अकर्त्तव्य में कर्त्तव्यबुद्धि रखना है।

जो अकर्त्तव्य कर्त्तव्य के भेष में आता है वह बड़ा ही भयंकर होता है, क्योंकि उसका त्याग कठिन हो जाता है। अकर्त्तव्य के रूप में अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि सर्वांश में कोई भी दोष किसी प्रकार से नहीं रह सकता। गुण का आश्रय पाकर ही दोष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख पाता है, अथवा यों कहो कि अकेला दोष रह ही नहीं सकता। इस दृष्टि से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद जानना अनिवार्य है। अधिकार की माँग अकर्त्तव्य की जननी है, और दूसरों के अधिकार की रक्षा कर्त्तव्य की जननी है।

जिस प्राणी की दृष्टि सदैव दूसरे के अधिकार पर ही लगी रहती है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ हो पाता है। और जो प्राणी अपने ही अधिकार को देखता रहता है वह कभी भी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, वह बेचारा ऐसी भयंकर परिस्थिति में आबद्ध हो जाता है कि एक दोष की निवृत्ति के लिए दूसरे दोष को अपनाता रहता है। जैसे, किसी की रक्षा के लिए किसी की हिंसा किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास, किसी के लाभ के लिए किसी की हानि करता रहता है। प्राकृतिक नियम के अनसार जिस रक्षा, विकास और लाभ के मूल में हिंसा, ह्रास और हानि है, उससे अन्त में हिंसा, ह्रास और हानि ही सिद्ध होती है। क्योंकि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसका अन्त उसी में होता है। अतः अकर्त्तव्य के त्याग से जिस

कर्त्तव्य का उदय होता है वही कर्त्तव्य वास्तव में विकास का मूल है। अकर्त्तव्य का त्याग किए बिना कर्त्तव्यनिष्ठ होना किसी भी प्रकार सम्भव ही नहीं है, अथवा यों कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग भी निषेधात्मक दृष्टि से कर्त्तव्य ही है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियों की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना पराई वस्तु को अपना मानना है। पराई वस्तु को अपना मानने से प्राणी का सर्वनाश हो जाता है। इस कारण जो सुख प्राप्त है उसका वितरण कर उसकी आसक्ति से रहित होना अनिवार्य है। सुख बाँट देने पर दुःख सदा के लिए मिट जाता है और सुख—दुःख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। जो प्राणी सुख—भोग तथा सुख की आशा में आबद्ध हो जाता है वह कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता और स्वाधीनता के बिना चित्त की शुद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि पराधीन प्राणी सर्वदा सुख की आशा में आबद्ध रहता है।

सुख की आशा चित्त में राग—द्वेष उत्पन्न करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। सुख की आशा से रहित होने पर राग—द्वेष, त्याग तथा प्रेम में बदल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त उसी प्राणी का शुद्ध हो सकता है, दूसरों के कर्त्तव्य पर दृष्टि नहीं रखता और जिसकी प्रसन्नता किसी की उदारता पर निर्भर नहीं हैं, परन्तु जो स्वयं दूसरों के लिए उदार भी है और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा भी करता है, अर्थात् उदारता तथा कर्त्तव्य—परायणता ही जिसे अभीष्ट है, उसी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि चित्त को प्राणी के अधीन नहीं रहने देती। अर्थात् प्राणी अशुद्ध चित्त का न तो निरोध ही कर सकता है, और न उससे सम्बन्ध—विच्छेद कर सकता है, न उसे जब जिसमें लगाना चाहे उसमें लगा सकता है और न जिससे हटाना चाहे उससे हटा सकता है। अर्थात् चित्त के हटाने, लगाने में प्राणी स्वाधीन नहीं रहता, जिसके बिना, जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो

नहीं करना चाहिए उससे बच नहीं पाता। जो करना चाहिए उसके न करने से, जो मिलना चाहिए वह नहीं मिलता। उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी उससे विमुख हो जाता है जिससे उसकी वास्तविक एकता है। जो नहीं करना चाहिए उसमें प्रवृत्ति होने से उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। इस दृष्टि से चित्त को अपने अधीन बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब चित्त स्वस्थ हो जाय। उसके लिए चित्त को शान्त तथा शुद्ध करना अनिवार्य है।

चित्त का निरोध हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता और उसके बिना स्वाधीनता की ओर प्रगति नहीं होती। चित्त के निरोध के लिए किसी वस्तु—व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। अपितु सभी वस्तु—व्यक्ति आदि से सम्बन्ध—विच्छेद की आवश्यकता है, क्योंकि वस्तु—व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त की गति विपरीत हो गई है, जिससे चित्त का निरोध नहीं होता। जब चित्त में वस्तु या व्यक्ति का राग अंकित हो जाता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। कोई वस्तु चित्त को अशुद्ध नहीं करती। वस्तु का महत्त्व उसका राग, उसका दुरुपयोग और उसकी कामना चित्त को अशुद्ध करती है। वस्तु के सदुपयोग से, उसकी कामना न करने से चित्त शुद्ध हो जाता है। व्यक्तियों से सुख की आशा तथा उनकी ममता चित्त को अशुद्ध करती है। यदि व्यक्तियों की सेवा की जाय और उनसे ममता न की जाय तो चित्त अशुद्ध नहीं होता, अपितु शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु और व्यक्ति का होना चित्त की अशुद्धि में हेतु नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का सदुपयोग व्यक्तियों की सेवा में है और व्यक्तियों की सेवा उनसे सम्बन्ध—विच्छेद कराने में समर्थ है। इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना और किसरी भी व्यक्ति से सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है। जो प्राणी व्यक्तियों से सुख की आशा करता है वह व्यक्तियों की सेवा नहीं कर सकता और न

उनकी ममता से ही रहित हो सकता है। इस कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा नहीं करनी चाहिए, अपितु सुख देने के लिए प्रयास करते रहना चाहिए। सुख देने की भावना में ही सुख की आशा का त्याग निहित है। सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने में समर्थ है। सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

चित्त की शान्ति चित्त को स्वयं शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध, अथवा चित्त से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, अथवा चित्त स्वतः अपने अधीन हो जाता है।

जो चित्त को अपने अधीन कर लेता है, वह पराधीन नहीं रहता, अथवा यों कहो कि उसकी प्रसन्नता किसी परिस्थिति विशेष कर निर्भर नहीं रहती। ऐसा होने पर समस्त विश्व उसके अधीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि विश्वनाथ से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् अनाथ नहीं रहता, अपितु सनाथ हो जाता है। चित्त के निरोध में समस्त भौतिक विकास निहित है और चित्त के बाधित होने में, अर्थात् उससे सम्बन्ध न रहने पर अध्यात्म–जीवन से अभिन्नता होती है। जब तक प्राणी को चित्त जैसी कोई वस्तु भासित होती है, तब तक चित्त में कोई–न–कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, तब उसका भास नहीं होता, क्योंकि खिन्नता तथा नीरसता के रहते हुए ही चित्त का भास होता है और खिन्नता तथा नीरसता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक चित्त में किसी–न–किसी प्रकार की अशुद्धि है।

चित्त स्वभाव से अशुद्ध नहीं है, क्योंकि चित्त तो एक अलौकिक सामर्थ्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सामर्थ्य के दुरुपयोग से सामर्थ्य दूषित होती है। यद्यपि सामर्थ्य में स्वभाव से कर्तृत्व नहीं है, परन्तु उसके दुरुपयोग का प्रभाव उसमें कर्तृत्व के आरोप को भासित करता है। सामर्थ्य का सदुपयोग, अथवा दुरुपयोग उसी के अधीन है, जिसे वह प्राप्त है। सामर्थ्य जिसकी देन है विवेक भी

उसी की देन है। जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त रूपी सामर्थ्य का सदुपयोग करता है, तब चित्त में किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त में अशुद्धि केवल अविवेक सिद्ध है, जो प्राणी का अपना दोष है, चित्त का नहीं। अविवेक विवेक के अनादर से उत्पन्न होता है। अतः अविवेक का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी उत्पत्ति प्राप्त के दुरुपयोग से होती है। प्राप्त का दुरुपयोग ही समस्त दोषों का मूल है। प्राप्त का दुरुपयोग किसी की देन नहीं है, अपितु अपना ही बनाया हुआ दोष है, जिसका अन्त प्राणी जब चाहे कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता तथा उदारतापूर्वक प्राणी बड़ी ही सुगमता से चित्त शुद्ध कर सकता है। कर्त्तव्यपरायणता अपने अधिकार के त्याग में निहित है और उदारता किसी से घृणा न करने पर ही सुरक्षित रह सकती है। जो किसी से भी घृणा करता है, वह उस अनन्त से घृणा करता है, क्योंकि समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और घृणा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अधिकार—लालसा अकर्त्तव्य को और पर—दोष—दर्शन घृणा को जन्म देता है। पर—दोष—दर्शन की दृष्टि निर्दोष नहीं होने देती, क्योंकि पर—दोषदर्शी निज दोष दर्शन ही नहीं कर पाता, जिसके बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने दोष के ज्ञान में ही निर्दोषता निहित है।

कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग करता है, जिससे खिन्नता स्वतः मिट जाती है, जिसके मिटते ही उदारता की अभिव्यक्ति अपने—आप हो जाती है। उदारता का क्रियात्मक रूप सेवा, तात्विक रूप एकता और वास्तविक रूप प्रीति है। सेवा से नीरसता निर्जीव हो जाती है और प्रीति से उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है। नीरसता का अन्त होते ही चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जो समस्त विकास का मूल है।

२३—६—५६

२७

संकल्प उत्पत्ति–पूर्त्ति से अतीत का जीवन

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है, उसमें अस्वाभाविकता नहीं है और न उस स्थिति में किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। यह नियम है कि जब तक किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध की स्थापना नहीं होती तब तक राग–द्वेष की प्रतीति नहीं होती और राग–द्वेष रहित स्थिति में चित्त अशुद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का कारण चित्त में राग–द्वेष का अंकित होना है और कुछ नहीं। अतः राग–द्वेष रहित होने पर ही चित्त शुद्ध हो सकता है। संकल्प–उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति का भास यदि स्पष्ट हो जाए, तो संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख का प्रभाव चित्त में अंकित न हो, जिसके हुए बिना चित्त में अशुद्धि आ ही नहीं सकती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन और दुःख का भय ही चित्त को अशुद्ध करता है। सुख–दुःख के भास होने से कोई चित्त अशुद्ध नहीं होता, चित्त अशुद्ध होता है सुख के महत्त्व और दुःख के भय से।

सुख का भास होने पर भी यदि उसका महत्त्व नहीं है, तो राग की उत्पत्ति नहीं होगी और दुःख का भास होने पर भी यदि उसका भय न हो, तो द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, सुख के महत्त्व से ही दुःख का भय उत्पन्न होता है।

जब तक प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक संकल्प की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि की सत्यता की स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही संकल्प का स्वरूप है। संकल्प की उत्पत्ति वस्तु, व्यक्ति आदि से

सम्बन्ध जोड़ देती है। संकल्प—पूर्ति—काल में जिन वस्तुओं की प्राप्ति होती है, उन वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं रहता। तात्पर्य यह कि संकल्प—अपूर्ति काल में वस्तुएँ अप्राप्त है, पर उनका सम्बन्ध ज्यों—का—त्यों सुरक्षित है और संकल्प—पूर्ति—काल में वस्तुएँ प्राप्त हैं, पर उनसे सम्बन्ध नहीं रहता चाहे वह काल कितना ही अल्प क्यों न हो।

पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। एक संकल्प की पूर्ति और दूसरे संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमें किसी वस्तु आदि से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह वही स्थिति है, जो संकल्प—उत्पत्ति से पूर्व थी।

यह नियम है कि देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध किसी—न—किसी क्रिया की उत्पत्ति में ही निहित है। संकल्प उत्पत्ति की क्रिया किसी—न—किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ती है। इच्छित वस्तु के प्राप्ति—काल में संकल्प—उत्पत्ति की क्रिया शेष नहीं रहती, जिसके न रहने पर उस स्थिति से अभिन्नता हो जाती है, जो क्रिया—उत्पत्ति से पूर्व थी और उसी काल में सुख का भास होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का भास किसी वस्तु—व्यक्ति आदि पर निर्भर नहीं है, अपितु उस पर निर्भर है, जो संकल्प—उत्पत्ति से पूर्व है।

यदि सुख का भास इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर निर्भर होता, तो वह सुख जो संकल्प—पूर्ति—काल में था, इच्छित वस्तु के रहने पर भी रहता। परन्तु उस सुख का भास उसी समय तक रहता है, जिस समय क दूसरे संकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् संकल्प—उत्पत्ति सुख से विमुख करती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण उस सुख का आरोप इच्छित वस्तु, व्यक्ति आदि में कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि इच्छित वस्तुओं का महत्त्व बढ़ जाता है, उनकी सत्यता दृढ़ हो जाती है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तुओं में ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन अपने आप होने लगता है। अथवा यों कहो कि संकल्प—विकल्प का प्रवाह स्वतः बहने लगता है,

व्यक्ति, देश, काल आदि की सत्यता भासने लगती है और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रकाशक है, अर्थात् जो अनन्त, नित्य, चिन्मय है, उससे विमुखता हो जाती है, जिससे संकल्प—उत्पत्ति और पूर्ति में ही जीवन भासने लगता है। और जो वास्तविक जीवन है, उसका अभाव सा प्रतीत होता है। यद्यपि संकल्प—उत्पत्ति—पूर्ति के मूल में वास्तविक जीवन की जिज्ञासा विद्यमान रहती हे, अथवा यों कहो कि जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जाना नहीं, जो कभी मिला नहीं, उसकी प्यास प्राणी में स्वभाव से है जिसे कोई भी वस्तु बुझा न सकी। परन्तु कामना—पूर्ति के प्रलोभन ने न तो जिज्ञासा की पूर्ति होने दी और न उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होने दी, जिसकी प्यास प्राणी में स्वाभाविक है।

जब प्राणी संकल्प—उत्पत्ति—पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता, तब विद्यमान जिज्ञासा अपने आप जाग्रत होती है, जो कामनाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। परन्तु जब तक प्राणी को संकल्प—उत्पत्तिमात्र का श्रम सहन होता है, अर्थात् असह्य नहीं होता, तब तक जिज्ञासा की पूर्ण जागृति सम्भव नहीं हैं। यद्यपि चिर—विश्राम की आवश्यकता प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु क्रियाजनित सुखासक्ति उस आवश्यकता को आच्छादित करती रहती है, किन्तु मिटा नहीं पाती। इतना ही नहीं, प्रत्येक श्रम का उद्‌गम और अन्त विश्राम में निहित है।

ऐसा कोई श्रम है ही नहीं, जो आदि और अन्त से रहित हो। इसी कारण श्रम के द्वारा जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, वे वस्तुएँ भी आदि और अन्त से रहित नहीं है। परन्तु चिर विश्राम से जिसकी प्राप्ति होती है, वह आदि और अन्त से रहित है, अर्थात् अनन्त है। प्रत्येक श्रम के मूल में कोई—न—कोई कामना रहती है। उसकी पूर्ति के लिए ही श्रम की अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमि में उपजती हैं, वह भूमि अविवेक—सिद्ध हैं, अर्थात् निज विवेक के अनादर में ही काम की उत्पत्ति होती है और काम से ही कामनाएँ जन्म पाती हैं। परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य ही काम का स्वरूप है, अथवा यों

कहो कि उत्पत्ति—विनाश—युक्त वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं प्रियता का भास ही काम है।

इतना ही नहीं, रस तथा जीवन की रुचि भी काम ही है। यद्यपि कामनाओं की पूर्ति में न तो जीवन ही है और न वह रस जो नीरसता में न बदल जाय। परन्तु प्राणी रस के भास को रस तथा शरीर के अस्तित्वमात्र को जीवन मान लेता है। किन्तु इस मान्यता से वह अपने को पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर पाता, क्योंकि शरीर का अस्तित्व नित्य नहीं है और कामना—पूर्ति का रस अपने—आप नीरसता में बदल जाता है। वह अस्तित्व जिसका नाश न हो, अर्थात् नित्य हो और वह रस जो नीरसता में न बदले, अर्थात् अनन्त हो, कामना—पूर्ति के द्वारा सम्भव नहीं है। यद्यपि नित्य—जीवन और अनन्त—रस की लालसा प्राणी में स्वाभाविक है, परन्तु परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य की आसक्ति उस लालसा को शिथिल कर देती है, जिससे बेचारा प्राणी कामना—पूर्ति के श्रम में आबद्ध रहता है।

कामना—पूर्ति के क्षेत्र में श्रम की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु काम की निवृत्ति के लिए श्रम लेशमात्र भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि अनन्त, नित्य सौन्दर्य की लालसा की जागृति मात्र से काम का नाश हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या उस लालसा की जागृति श्रम नहीं है ? कदापि नहीं। क्योंकि श्रम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा होता है और अनन्त, नित्य सौन्दर्य की लालसा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध—विच्छेद कर देती है। शरीर—रहित जीवन में श्रम की गन्ध भी नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि शरीर—रहित भी कोई जीवन है ? तो कहना होगा कि शरीर युक्त ही यदि जीवन है, तो फिर मृत्यु क्या है ? अतः निर्विवाद सत्य है कि शरीर से अतीत ही जीवन है, शरीर में जीवन नहीं है। अपितु शरीर में जीवन का मिथ्याभास है। हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं कि उस मिथ्या जीवन के भास में वास्तविक जीवन की लालसा निहित है। जिस प्रकार निर्बलता बल की लालसा से भिन्न और कुछ नहीं है, उसी प्रकार जीवन का भास वास्तविक जीवन की लालसा से भिन्न

कुछ नहीं है। यदि निर्बलता का भास न हो तो बल की आवश्यकता ही जाग्रत नहीं हो सकती, अर्थात् निर्बलता का भास बल की आवश्यकता की जागृति में हेतु है और बल की आवश्यकता बल की प्राप्ति में समर्थ है। वर्तमान की आवश्यकता में ही भविष्य की उपलब्धि निहित है। अतः जीवन के भास में ही जीवन की आवश्यकता की जागृति और जीवन की आवश्यकता की जागृति में ही जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्ति किसी अन्य की नहीं होती, प्रत्युत् उसी की होती है जो नित्य प्राप्त है।

कामना उसी की होती है जिसका भास हो, पर अस्तित्व नित्य न हो। और आवश्यकता उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर भास नहीं। यदि ऐसा न होता तो कामनाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति ही सिद्ध न होती। कामनायुक्त—अनित्य जीवन में कामना—पूर्ति—अपूर्ति का द्वन्द्व रहता है। परन्तु कामनाओं की निवृत्ति से जिस स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होती है उस वास्तविक जीवन में पूर्ति—अपूर्ति का द्वन्द्व नहीं है, अर्थात् वह द्वन्द्वातीत, अनन्त, नित्य चिन्मय जीवन है। इस दृष्टि से श्रम का सम्बन्ध केवल उसी समय तक है जिस समय तक काम का नाश नहीं हुआ, अर्थात् जिसे काम में ही जीवन प्रतीत होता है वह श्रम को ही महत्त्व देता है। किन्तु श्रम के लिय भी विश्राम अपेक्षित है, क्योंकि प्रत्येक गति के लिए स्थिरता अनिवार्य है। कारण, कि स्थिरता के बिना गति हो ही नहीं सकती और वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए भी विश्राम परम आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विश्राम की आवश्यकता सभी को सर्वत्र, सर्वदा है। जिसके बिना किसी समस्या का हल न हो सके, अथवा किसी प्रकार भी त्याग न किया जा सके उसके महत्त्व को भूल जाना और उसे न अपनाना—इससे बढ़कर प्राणी की और कोई असावधानी हो ही नहीं सकती। अतः काम के नाश तथा वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए चिर—विश्राम, जो स्वतः प्राप्त है, उसे अपना लेना अनिवार्य है। उसको अपनाये बिना किसी प्रकार का विकास सम्भव ही नहीं है।

यदि किसी कारण उसकी अप्राप्ति प्रतीत हो जो स्वाभाविक प्राप्त है, तो उसकी प्राप्ति के लिए उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास निज विवेक पूर्वक करना अनिवार्य है। विश्राम से भिन्न श्रम और नित्य जीवन से भिन्न अनित्य—जीवन की जो प्रतीति है उसका विवेक दृष्टि से क्या स्वरूप है ? अथवा यों कहो कि इन्द्रिय—दृष्टि से जिन वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है, बुद्धि—दृष्टि से उन्हीं वस्तुओं में मलिनता और क्षणभंगुरता का दर्शन होता है और विवेक दृष्टि से किसी ने उन प्रतीत होने वाली वस्तुओं के अस्तित्व का ही दर्शन नहीं किया, क्योंकि विवेक दृष्टि जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न कर देती है।

चिन्मय—साम्राज्य में किसी ने न तो काम को पाया और न श्रम को। अतः काम और श्रम का अस्तित्व उसी समय तक प्रतीत होता है जब तक प्राणी इन्द्रिय—दृष्टि पर बुद्धि—दृष्टि से विजयी नहीं होता, और बुद्धिदृष्टि के परिणाम को अपनाकर उससे विवेक पूर्वक असंग नहीं हो जाता। इन्द्रिय—दृष्टि प्राणी के चित्त में वस्तुओं के राग को अंकित करती है और बुद्धि—दृष्टि उस अंकित राग का नाश करती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है, अथवा यों कहो कि प्राणी संकल्प—पूर्ति की दासता से संकल्पनिवृत्ति की शान्ति में विश्राम पाता है। किन्तु विवेकदृष्टि प्राणी को संकल्पनिवृत्ति की शान्ति से भी असंग कर देती है, जिसके होते ही सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

चिन्मय साम्राज्य में किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नहीं है। विषमता और अभाव के अन्त होने पर राग—द्वेष की निवृत्ति अपने आप हो जाती है, जिसके हाते ही त्याग तथा प्रेम अपने आप आ जाता है। अथवा यों कहो कि स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, क्योंकि त्याग पराधीनता को खा लेता है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में अमरत्व और प्रेम की अभिव्यक्ति में अगाध—अनन्त रस निहित है।

संकल्प–पूर्ति–अपूर्ति से अतीत के जीवन की सत्ता स्वीकार करने पर समस्त वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, क्योंकि संकल्प के द्वारा ही वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध दृढ़ होता है। अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प से अतीत के जीवन की स्वीकृति सम्भव नहीं है। तो क्या संकल्प जिस परिस्थिति से सम्बन्ध दृढ़ करता है उसकी स्वीकृति सम्भव है ? कदापि नहीं। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति परिवर्तनशील तथा अभावरूप है। अभाव की सत्ता स्वीकार करना और जिस चिन्मय–जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है उसकी सत्ता अस्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? वस्तु, अवस्था आदि से अतीत की सत्ता को स्वीकार न करना ही चित्त को अशुद्ध करना है। वस्तुओं की स्वीकृति भले ही चित्त में अंकित रहे, पर वस्तुओं की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं की स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। उस पर भी यदि किसी को वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति अभीष्ट नहीं है, अथवा उसकी स्वीकृति में असमर्थता है तो वस्तुओं की स्वीकृति भी नहीं करनी चाहिए। वस्तुओं की अस्वीकृति से वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जिसकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी स्वीकृति की अपेक्षा ही नहीं रहती और जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसकी स्वीकृति कुछ अर्थ नहीं रखती। वस्तुओं से अतीत के जीवन की स्वीकृति वस्तुओं की दासता से रहित करने में साधनरूप है और कुछ नहीं। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन असाधन का नाश कर साध्य से साधक को अभिन्न कर स्वयं मिट जाता है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है और परिणाम में आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार साधनरूप स्वीकृति असाधनरूप स्वीकृति को खाकर स्वयं मिट जाती है। और साध्य ही अपनी महिमा में आप स्थित हो, ज्यों–का–त्यों अपने आपको प्रकाशित करता है, अर्थात् जो अपने आप में स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

इस दृष्टि से साधन के निर्माण में ही साध्य की उपलब्धि निहित है। और चित्त की शुद्धि से ही साधक में साधन की अभिव्यक्ति होती है। अतः सर्वात्मभाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, राग—द्वेष से रहित होकर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। सर्वात्मभाव के बिना राग—द्वेष का अन्त सम्भव नहीं है। कारण, कि जो भिन्नता तथा भेद को स्वीकार कर लेता है, उसका चित्त राग—द्वेष—रहित नहीं हो सकता, जिसके हुए बिना न तो स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है और न प्रेम की अभिव्यक्ति।

सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब प्राणी प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से ममतारहित होकर व्यक्तियों की सेवा कर, उनसे सुख की आशा से रहित हो जाय। कारण, कि सुख की आशा ने ही प्राणी को वस्तु—व्यक्ति आदि की दासता में आबद्ध कर दिया है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अतः चित्त की शुद्धि के लिए वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के द्वारा सुख की आशा से रहित होना अनिवार्य है।

२४—६—५६

२८

करने में सावधान और होने में प्रसन्न

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय !

जब प्राणी करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहता, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में करने की रुचि विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति की सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। परन्तु जब प्राणी असावधानी से प्राप्त का सदुपयोग नहीं करता, तब न तो करने की रुचि का नाश होता है और न उत्कृष्टता की ओर उसकी प्रगति ही होती है। करने की रुचि का नाश हुए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता। इतना ही नहीं, करने की रुचि के कारण जो नहीं करना चाहिए वह करने लगता है, अर्थात् कर्त्तव्य के अभाव में ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य नहीं है, अर्थात् अकर्त्तव्य है, उसमें प्राणी की प्रवृत्ति ही क्यों होती है ? जो कर्त्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानी–पूर्वक नहीं होती, जिसके न होने से बेचारा कर्त्ता न तो कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो पाता है और–न फलकी आशा से। कर्तृत्व के अभिमान के कारण प्राणी अपनी प्रवृत्ति में आप बँध जाता है। अर्थात् उसके चित्त में किए हुए कर्मों का संस्कार अंकित हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के दो रूप होते हैं, एक तो वह जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से

उसके अहम्—भाव में अंकित हो जाता है। प्रवृत्ति का जो रूप दृश्य रूप से प्रतीत होता है, उसका सुख—दुःख प्रवृत्तिकाल में ही कर्त्ता को प्रत्यक्ष हो जाता है। परन्तु प्रवृत्ति का दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप में उसके अहम्—भाव में अंकित हो जाता है, उसका फल प्राकृतिक विधान के अनुसार कालान्तर में किसी—न—किसी परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है। जो प्राणी प्रवृत्ति के उस रूप पर दृष्टि नहीं रखते जो अदृश्य के रूप में अंकित होता है, वे भविष्य को उज्ज्वल बनाने में समर्थ नहीं होते। कारण, कि वर्त्तमान के सुख—दुःख पर ही उनकी दृष्टि रहती है, जो दूरदर्शिता नहीं है। दूरदर्शिता के बिना कोई भी अपने भविष्य को सुन्दर नहीं बना सकता। अतः प्रवृत्ति के बाह्य रूप पर ही दृष्टि नहीं रखना चाहिए, अपितु प्रवृत्ति के उस रूप पर भी पूरा—पूरा ध्यान देना चाहिए, जो कर्त्ता में अदृश्य रूप से अंकित होता है। कर्त्ता, कर्म और फल देखने में भले ही अलग—अलग मालूम होते हों, पर वास्तव में प्रत्येक कर्म और फल कर्त्ता का ही रूपान्तर है। अतः जो कर्त्ता जैसा होता है, वैसा ही उसका कर्म होता है और जैसा कर्म होता है, वैसा उसका भविष्य होता है। सुन्दर कर्त्ता का कर्म और भविष्य सुन्दर होता है और असुन्दर कर्त्ता का कर्म और भविष्य असुन्दर होता है।

अब विचार यह करना है कि कर्त्ता असुन्दर क्यों होता है ? जो कर्त्ता क्रियाजनित सुख में ही अपने को आबद्ध रखता है, वही असुन्दर हो जाता है, क्योंकि क्रियाजनित सुख प्राणी को जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध कर देता है। जड़ता और पराधीनता में आबद्ध होने पर कर्त्ता की प्रवृत्ति निरुद्देश्य होने लगता है। जिस प्रवृत्ति के मूल में वास्तविक उद्देश्य नहीं है, केवल प्रवृत्तिजनित सुख ही जिसका उद्देश्य है वह प्रवृत्ति कभी भी कर्त्तव्यरूप नहीं हो सकती।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य होना चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति ही जीवन नहीं है। यदि प्रवृत्ति ही जीवन होती, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु कोई प्रवृत्ति ऐसी है ही

नहीं, जो अपने आप निवृत्ति में विलीन न हो जाय। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के द्वारा जो परिस्थिति उत्पन्न होती है वह भी अपने आप बदल जाती है, अर्थात् उसमें भी स्थिरता नहीं है, अथवा यों कहो कि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा अभावरूप ही है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रवृत्तिमात्र में ही जीवन नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई उद्देश्य होना चाहिए, तभी प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिसमें प्रवृत्ति की रुचि है, उसमें उद्देश्य का ज्ञान भी निहित है। यदि ऐसा न होता, तो कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, अथवा अपने प्रति होने वाले अकर्त्तव्य का ज्ञान ही व्यक्ति को न होता। पर ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो अपने प्रति होने वाली बुराई को बुराई न जानता हो।

जिसे बुराई का ज्ञान है, उसके द्वारा बुराई क्यों होती है ? इसका एक मात्र कारण यही है कि वह लक्ष्य का निर्णय बिना किए ही प्रवृत्ति का आरम्भ कर देता है। अतः कर्त्ता वही सुन्दर हो सकता है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उद्देश्य पूर्ण हो।

प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है और जिसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नहीं है। अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति किसी का भी लक्ष्य नहीं हो सकती। व्यक्ति इस बात को भले ही न जाने, अथवा न माने, पर यह ध्रुव सत्य है कि परिस्थिति लक्ष्य नहीं है। परिस्थिति लक्ष्य न होने पर भी प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप अवश्य है। इस नाते सभी परिस्थितियाँ आदरणीय हैं।

जो उद्देश्य नित्य है, उसका ज्ञान भी व्यक्ति में स्वतः सिद्ध है। पर प्रवृत्ति मात्र को ही उद्देश्य मान लेने से उस स्वतः—सिद्धि ज्ञान की विस्मृति हो जाती है। विस्मृति उसकी नहीं होती, जिसे प्राणी जानता नहीं। जाने हुए की विस्मृति को ही विस्मृति कहते हैं। उद्देश्य का

ज्ञान तो है, पर उस पर दृष्टि नहीं है। जब प्रवृत्ति का परिणाम व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तब उसमें उद्देश्य की जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है। यह नियम है कि जिसकी विस्मृति हो गई हो, उसकी जिज्ञासा यदि जाग्रत हो जाए, तो उसका ज्ञान स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को स्वतः जान सकता है।

जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि जो बात स्वयं जानने की है उसको सीखना—सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। हाँ, यह अवश्य है कि व्यक्ति अपने उद्देश्य को दूसरों के सामने प्रकट कर सकता है और यह भी सम्भव है कि लक्ष्य में भिन्नता न हो। पर भिन्नता न होने पर भी व्यक्ति जब तक अपने लक्ष्य को आप नहीं जानता है, तब तक वह उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर नहीं कर सकता। जिसके लिए सर्वस्व निछावर नहीं किया जा सकता, वह वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती, और जो वर्तमान की वस्तु नहीं हो सकती और जिसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह लक्ष्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य को जानना अनिवार्य है।

ऐसा कौन व्यक्ति है, जो यह नहीं जानता कि मुझे उत्कृष्टता, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, जीवन और प्रेम की आवश्यकता है। पर इस जाने हुए उद्देश्य पर दृष्टि नहीं रहती। उसका एकमात्र कारण यह है कि अपने उद्देश्य को व्यक्ति दूसरों के द्वारा सीखना चाहता है। जिसका उद्देश्य उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना है, उसे स्वार्थ को सेवा में बदलना होगा, क्योंकि सेवा के बिना किसी को भी आदर, कीर्ति यश तथा उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार का उद्देश्य प्राणी का तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह अपने को देह मानता है, अथवा यों कहो कि देह से भिन्न नहीं जानता। अपने को देह मानने में प्राप्त विवेक का विरोध है। अतः जिस निर्णय में विवेक का विरोध है वह निर्णय निर्विवाद नहीं हो सकता, अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी

उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना अवनति नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थिति—जनित सत्यता और सुन्दरता उसी समय तक प्रतीत होती है, जिस समय तक वह प्राप्त न हो जाय, अथवा उसे विवेकपूर्वक जानने का प्रयास न किया जाय। परिस्थिति की प्राप्ति परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न करने में स्वतः समर्थ है। परन्तु कब ? जब दृष्टि सदैव उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर ही लगी रहे, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा में वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से क्रमशः भौतिक विकास भी व्यक्ति को वास्तविक उद्देश्य की अग्रसर करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आज जो वस्तुओं में ही जीवन—बुद्धि रखता है, वह कल वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उस पर विश्वास करने का, अथवा उसको प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। इस दूरदर्शिता की दृष्टि से समस्त व्यक्तियों का उद्देश्य एक हो सकता है। परन्तु जो व्यक्ति अदूरदर्शी है, वह कुछ काल के लिए उत्कृष्ट परिस्थितियों को ही जीवन मान लेता है। पर उसकी यह मान्यता स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि सारी सृष्टि का मूल आधार एक है। अतः समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य भी एक ही है। उस उद्देश्य का वर्णन व्यक्तियों ने योग्यता और रुचिभेद से अनेक प्रकार से किया है। पर जिसका वह वर्णन है, वह एक और अनन्त है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति उसको अपने—अपने दृष्टिकोण से देखता है, उसके सम्बन्ध में सोचता है और उसको प्राप्त करने के लिए परिस्थिति के अनुसार प्रयत्नशील रहता है। इतना ही नहीं, ज्यों—ज्यों वह उद्देश्य की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों—त्यों उसका व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है और ज्यों—ज्यों व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है, त्यों—त्यों वह अनन्त—नित्य—चिन्मय जीवन से अभिन्न होता जाता है। जिस काल में व्यक्ति अपने सीमित स्वभाव का अन्त कर देता है, उसी काल में वह वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

जब व्यक्ति अपने उस वास्तविक उद्देश्य पर विश्वास कर लेता है

जो समस्त कामनाओं के मूल में विद्यमान है, तब उसे प्रत्येक परिस्थिति समान प्रतीत होने लगती है, क्योंकि परिस्थिति का बाह्य रूप काम का ही परिणाम है और कुछ नहीं। यह रहस्य ज्यों—ज्यों स्पष्ट होता जाता है, त्यों—त्यों कामनाएँ स्वत निवृत्त होती जाती हैं। जिस काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, उसी काल में प्राणी वास्तविक उद्देश्य के लिए आकुल तथा व्याकुल होने लगता है। यह नियम है कि व्याकुलता की जागृति प्राणी के उस अहम्भाव को खा लेती है, जिसमें काम का निवास था। काम का अन्त होते ही व्याकुलता प्रीति में बदल जाती है और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति हो जाती हैं समस्त कामनाओं की भूमि काम है। इस कारण कामनाओं की निवृत्ति होने पर भी काम निर्जीव दशा में रहता है, जिसे व्याकुलता की अग्नि भस्मीभूत कर देती है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ कामनाएँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति अनिवार्य है और कुछ ऐसी भी उत्पन्न होने लगती हैं जिनकी पूर्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कामनाओं की पूर्ति के बिना विद्यमान राग की निवृत्ति नहीं हो सकती, उनकी पूर्ति के लिए परिस्थिति प्राकृतिक न्याय से स्वतः प्राप्त होती है। जिन कामनाओं की निवत्ति अनिवार्य है उनके लिए उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राणी को विवेक प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राणी को एक ही उद्देश्यकी पूर्ति के लिए विवेकपूर्वक कामनाओं की निवृत्ति भी करना है और सेवाभाव अथवा कर्त्तव्य—बुद्धि से उन्हें पूरा भी करना हैं परन्तु कामना—पूर्ति भी कामना—निवृत्ति का ही साधन है, नवीन कामनाओं को जन्म देने के लिए नहीं।

जिस विवेक में कामना—निवृत्ति की सामर्थ्य है, उसी विवेक से प्राणी को कामना—पूर्ति का विधान भी प्राप्त है। अर्थात् विधान—विरोधी प्रवृत्ति द्वारा किसी भी कामना को पूरा नहीं करना है, क्योंकि जो विधान का अनादर करता है, वह करने में सावधान नहीं रह सकता, वह कामनापूर्ति द्वारा कामना—निवृत्ति की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस विधान से सारी सृष्टि अपने–अपने कार्य में नियुक्त है, उसी विधान से व्यक्ति को परिस्थिति मिली है और उसी विधान का प्रकाश विवेक है। इतना ही नहीं, समस्त सृष्टि में जो सामर्थ्य कार्य कर रही है, उसी से व्यक्ति को भी सामर्थ्य मिली है। और इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति में जो विवेक, सामर्थ्य और वस्तु है वह अनन्त की ही देन है। इस दृष्टि से प्राणी समस्त सृष्टि से अभिन्न है। अतः जिस व्यक्ति को जो परिस्थिति प्राप्त है उसका हित उसी के सदुपयोग में निहित है। परन्तु व्यक्ति असावधानी के कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विवेक और सामर्थ्य उसे प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा परिस्थितियों से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए मिली थी, वह नष्ट हो जाती है और विवेक का अनादर हो जाता है। इतना ही नहीं, उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती, अपितु प्राप्त परिस्थिति में भी अनेकों प्रतिकूलताएँ अपने आप आ जाती हैं, जिनसे भयभीत होकर प्राणी कर्त्तव्यच्युत हो जाता है जो विनाश का मूल है।

प्रत्येक व्यक्ति को सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा, जब वह जिस परिस्थिति में जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करने की बात न सोचे और जो कर सकता है उससे अपने को न बचाए। प्रत्येक व्यक्ति पराये दुःख से करुणित हो सकता है, और प्राप्त सुख को वितरित कर सकता है और विवेक–पूर्वक दूसरों से सुख की आशा का त्याग कर सकता है। अतः सुख की आशा से रहित प्राप्त सुख का सद्व्यय और पर–दुःख से दुखी होने पर ही व्यक्ति परिस्थिति का सुन्दरता–पूर्वक सदुपयोग कर सकता है।

जो व्यक्ति दूसरों से सुख की आशा करता हो और पराये दुःख से अपने को बचाता हो और प्राप्त सुख को दुखियों की धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। जो परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर

सकता वह परिस्थिति की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना है और प्राप्त परिस्थिति की दासता से भी रहित होना है। यह नियम है कि परिस्थितियों की दासता से रहित होने की सामर्थ्य उसी को प्राप्त होती है, जो प्राप्त परिस्थिति में ही अपना हित जानता है और उसका सदुपयोग आदरपूर्वक उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए विधिवत् कर्त्तव्य—बुद्धि से, अथवा सेवा—भाव से राग रहित होने के लिए करता है।

प्राप्त परिस्थिति में हित है, इस बात को वही जान सकता है, जो अनन्त के मंगलमय विधान पर विश्वास करता है। जिसे प्राकृतिक विधान में श्रद्धा नहीं रहती, वह प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का अनुभव नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक परिस्थिति किसी विधान से निर्मित है, इस पर अविचल श्रद्धा तथा विकल्परहित विश्वास करना अनिवार्य है। परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग वही कर सकता है, जो परिस्थिति को भोग—सामग्री, अर्थात् अपना जीवन नहीं मानता, अपितु साधन—सामग्री जानता है। परिस्थिति के सदुपयोग—काल में अपने उद्देश्य पर दृष्टि वही रख सकता है, जो उद्देश्य की पूर्ति को वर्तमान की वस्तु मानता है, उसके लिए भविष्य की आशा नहीं करता और न उससे निराश होता है, प्रत्युत् उद्देश्य—पूर्ति के लिए जिसमें नित नव उत्कण्ठा तथा उत्साह जाग्रत रहता है।

परिस्थिति का सदुपयोग विधिवत् वही कर सकता है, जो विवेक—विरोधी—चेष्टाओं को सहन ही नहीं कर सकता, अर्थात् जो किसी भी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर विवेक का अनादर करने के लिए बड़ी—से—बड़ी कठिनाइयों को अपना लेता है और विवेक के अनादर से प्राप्त होने वाली सुख—सुविधाओं का हर्षपूर्वक त्याग कर देता है। कर्त्तव्य—बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जो अपने को अधिकार—लोलुपता से रहित कर दूसरों के अधिकार की रक्षा में अपना अधिकार मानता है। अर्थात् जो अपने अधिकार का त्याग कर सकता है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ हो

सकता है। सेवाभाव से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जो सुख–लोलुपता से रहित होकर पर–दुःख को अपना दुःख मान लेता है, अर्थात् जिसका हृदय करुणा से भरपूर रहता है। जो किसी भी दुःखी को अपना सुख देने में संकोच नहीं करता और दुखियों के दुःख को अपना लेने में ही जिसे अपने दुःख की निवृत्ति भासती है, अथवा जो सभी में अपने सेव्य का दर्शन कर सकता है। राग–रहित होने के लिए परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है, जिसकी दृष्टि परिस्थिति के परिवर्तन में लगी रहती है, जो समस्त परिस्थितियों को अपूर्ण तथा अभावरूप जानता है।

कोई भी व्यक्ति परिस्थितियों का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियों के बन्धन से रहित नहीं हो सकता, क्योंकि विद्यमान राग की निवृत्ति परिस्थितियों के सदुपयोग में निहित है। और राग–रहित होने में ही योगी में योग, जिज्ञासु में तत्त्व–ज्ञान और प्रेमी में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। अथवा यों कहो कि समस्त विकास राग–रहित होने में ही निहित है, क्योंकि राग–रहित हुए बिना न तो चित्त का निरोध ही हो सकता है, न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होने की सामर्थ्य ही आती है। अर्थात् राग–रहित हुए बिना प्रेमी प्रेमास्पद को रस प्रदान कर ही नहीं सकता। इस दृष्टि से प्राणी मात्र को राग–रहित होना अनिवार्य है और राग रहित होने के लिए उस मंगलमय विधान से मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। अतः जो करने में सावधान नहीं रह सकता, वह भी वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता इस दृष्टि से करने में सावधान रहना अनिवार्य है।

जो व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में उस अनन्त का मंगलमय विधान स्वीकार कर लेता है, वह न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है, न प्राप्त परिस्थिति से अरुचि करता है, न उसमें ममता रखता है और न परिस्थिति के विपरीत कुछ भी करने को सोचता है जो परिस्थिति प्राप्त है उसके अनुरूप जो कर सकता है, करता है, जो नहीं कर सकता है, उसके लिए लेश–मात्र भी चिन्तित नहीं होता

है। इस कारण उसके जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता शेष नहीं रहती। वह जो कर सकता है, उसके करने में असावधानी नहीं करता। इस कारण उसके जीवन में अकर्मण्यता तथा आलस्य की उत्पत्ति ही नहीं होती। अकर्मण्यता तथा आलस्य का अन्त होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, जो आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता के विकास में हेतु है। ज्यों—ज्यों प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय करता है, त्यों—त्यों वह उत्तरोत्तर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उसकी वह प्रगति उस समय तक स्वतः होती है, जिस समय तक वह अपने अभीष्ट लक्ष्य से अभिन्न नहीं हो जाता।

विवेक विरोधी चेष्टाओं का अन्त किए बिना कोई भी व्यक्ति करने में सावधान नहीं रह सकता, क्योंकि विवेक का विरोध सहन करने पर अकर्त्तव्य में कर्त्तव्य—बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो प्राणी अपने विकास के लिए दूसरे का ह्रास, अपने आदर के लिए दूसरे का अनादर, अपने लाभ के लिए दूसरों की हानि और अपनी रक्षा के लए दूसरों का विनाश कदापि नहीं करता, अर्थात् उसमें हिंसा आदि दोषों की उत्पत्ति ही न होती। अथवा यों कहो कि विवेक का विरोध सहन करने में ही दो व्यक्तियों, दो वर्गों, दो देशों, दो मतों तथा दो दलों में संघर्ष की उत्पत्ति होती है। समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र निज विवेक का अनादर करना है और समस्त आसक्तियों की उत्पत्ति भी एकमात्र विवेक विरोधी चेष्टाओं में ही है। इस दृष्टि से करने में सावधान वही रह सकता है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है। विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों में सर्वात्मभाव एवं सर्व—हितकारी सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

करने में सावधान रहने के लिए वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान, प्राप्त परिस्थिति का आदर और उसका सदुपयोग तथा परिस्थिति के अनुरूप ही कर्त्तव्यनिष्ठा और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग तथा विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियों का होना अनिवार्य है।

जो व्यक्ति करने में सावधान रहता है, उसका चित्त अशुद्ध नहीं होता, उसे जो कुछ हो रहा है उसमें अपने मंगल का ही दर्शन होता है, क्योंकि उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ओत—प्रोत है।

यह नियम है कि मंगलमय विधान से जो कुछ होता है उसमें किसी का अहित नहीं होता। तो फिर जो हो रहा है उसमें प्रसन्न न होना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। प्रमादवश ही प्राणी घटनाओं के अर्थ को नहीं अपनाता, अपितु अपने को घटनाओं के चिन्तन में आबद्ध कर खिन्न होता रहता है, जो उसे, जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देता। इतना ही नहीं, प्रतिकूलताओं का भय और अनुकूलताओं की दासता भी उसे, जो हो रहा है उसमें प्रसन्न नहीं होने देती, क्योंकि अनुकूलता का वियोग और प्रतिकूलता का आना उसे सहन नहीं होता, जिसका एकमात्र कारण मंगलमय विधान पर दृष्टि न रखना है।

यद्यपि समस्त घटनाओं का अर्थ एक है, क्योंकि ऐसी कोई घटना हो ही नहीं सकती, जो प्राणी को संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं देती, अथवा विरक्ति तथा उदारता का पाठ नहीं पढ़ाती। विरक्ति तथा उदारता को अपना लेने पर जो कुछ हो रहा है उसमें मंगल ही मंगल है, क्योंकि प्रतिकूलता के बिना विरक्ति और अनूकूलता के बिना उदारता सुरक्षित ही नहीं रह सकती। यदि प्राणी प्रतिकूलताओं से विरक्ति को सुदृढ़ और अनुकूलता से उदारता को सजीव बनाए रखे, तो अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही उसके लिए मंगलमय सिद्ध होती है, क्योंकि विरक्ति से स्वाधीनता तथा उदारता से प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्राप्त वस्तुओं के परिवर्तन में, संयोग के वियोग में, सुख के अभाव में और दुःख के प्रादुर्भाव में भला व्यक्ति कैसे प्रसन्न रह सकता है ? यदि संयोग का वियोग न होता, तो नित्य योग की प्राप्ति सम्भव ही न होती। इस दृष्टि से संयोग के वियोग में भी व्यक्ति का अपना मंगल ही है। यदि वस्तुओं में सतत परिवर्तन न होता, तो प्राणी न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त होता

और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में उसकी श्रद्धा ही होती, जिसके बिना हुए स्वाधीनता तथा चिन्मयता सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वस्तुओं की दासता जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध करती है। इस दृष्टि से वस्तुओं के परिवर्तन में भी प्राणी का मंगल ही है। यदि सुख अभावरूप न होता और दुःख अपने आप न आता, तो प्राणी के जीवन में न तो सुख की दासता से मुक्त होने का प्रश्न उत्पन्न होता और न वह दुःखहारी को पुकारता ही और न वास्तविक आनन्द की खोज ही करता। इस दृष्टि से सुख के अभाव और दुःख के प्रादुर्भाव में भी प्राणी का मंगल ही है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो कुछ हो रहा है, उसमें किसी का अमंगल नहीं है। तो फिर होने में प्रसन्न न रहना भूल के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है।

यद्यपि जो कुछ हो रहा है, उसमें प्राणी का मंगल ही है। परन्तु प्राणी अविवेक के कारण उसे देख नहीं पाता, उसका परिणाम यह होता है कि वह भोग में ही जीवन मान बैठता है। जीवन में भले ही भोग का कोई स्थान हो, पर भोग में जीवन नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर भोग से अरुचि स्वतः जाग्रत होती है, जो भोग—वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। उनका अन्त होते ही प्राणी का प्रवेश सहज योग में, अर्थात् नित्य योग में स्वतः हो जाता है, जो होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य प्रदान करता है। जो होने में प्रसन्न नहीं रह सकता, वह क्षोभ तथा क्रोध से रहित नहीं हो सकता। जो क्रोध से रहित नहीं हो सकता उसे वास्तविक स्मृति प्राप्त नहीं हो सकती, अर्थात् उसे न तो कर्त्तव्य का ही ज्ञान हो सकता है और न अपने स्वरूप, अथवा अनन्त की स्मृति ही रह सकती है।

कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य के रूप में, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान में और अनन्त की विस्मृति प्राणी को आसक्तियों में आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है। क्षोभरहित हुए बिना प्राणी न तो सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही कर पाता है और न उसे आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता ही प्राप्त होती है,

क्योंकि क्षोभ शान्ति को भंग कर देता है। शान्ति के भंग होते ही प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने लगता है और अप्राप्त सामर्थ्य का विकास नहीं होता। इस कारण क्षुभित होने में प्राणी का अहित ही है। अतः न तो क्षुभित होना है और न क्रोधित। पर यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहे।

अकर्त्तव्य में आबद्ध प्राणी न तो करने की रुचि का ही अन्त कर सकता है, न जीने की आशा तथा मृत्यु के भय का ही और न पाने के प्रलोभन से ही रहित हो सकता है। अर्थात् उसमें करने का राग ज्यों—का—त्यों विद्यमान रहता है, जिससे उसे यथेष्ट विश्राम प्राप्त नहीं होता और न वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता से ही रहित होता है। इतना ही नहीं, बेचारा जड़ता में ही आबद्ध रहता है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता, चिन्मयता एवं चिर—विश्राम से वंचित रह जाता है। अकर्त्तव्य के कारण ही बेचारा प्राणी देह में अहम् बुद्धि स्वीकार करता है, जिससे जीने की आशा और मृत्यु के भय से आक्रान्त रहता है। जीने की आशा और मृत्यु का भय किसी—न—किसी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन में आबद्ध रखता है। इस दृष्टि से स्पष्ट विदित होता है कि अकर्त्तव्य में आबद्ध प्राणी का विकास नहीं होता, अपितु ह्रास ही होता है, जिसका एकमात्र कारण कर्त्तव्य की विस्मृति ही है और कुछ नहीं।

देहाभिमान में आबद्ध प्राणी न तो मोह—रहित ही हो सकता है और न कामरहित। मोहरहित एवं कामरहित हुए बिना किसी को भी वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं होती, जिसका एकमात्र कारण स्वरूप की विस्मृति ही है।

आसक्तियों में आबद्ध प्राणी में न तो अखण्ड स्मृति ही उदय होती है और न दिव्य चिन्मय प्रीति की ही अभिव्यक्ति होती है, जिसका एकमात्र कारण अनन्त की विस्मृति ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो स्वतः हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहने में ही सभी का हित निहित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो करने में सावधान है, वही होने में प्रसन्न रह सकता है, और जो होने में प्रसन्न रहता है, वही करने में सावधान हो सकता है। कारण, कि सावधानीपूर्वक की हुई प्रवृत्ति वही हो सकती है; जो निज विवेक के अनुरूप है। प्राणी को जिस विधान से विवेक मिला है, उसी विधान के अधीन समस्त सृष्टि में कार्य हो रहा है। अथवा यों कहो कि व्यष्टि और समष्टि का विधान एक है। इतना ही नहीं, समष्टि शक्तियाँ सर्वदा विधान के अधीन रहती हैं। यदि व्यक्ति विधान का अनादर न करे, तो प्रवृत्तियों में अकर्त्तव्य जैसी वस्तु की उत्पत्ति ही न हो, अर्थात् उसका जीवन कर्त्तव्य का प्रतीक बन जाय। यह नियम है कि कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः व्यक्ति के अनुकूल हो जाती है, जिससे उसका विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से जो कर्त्तव्यनिष्ठ है, वही होने में प्रसन्न रह सकता है। यदि किसी को जो हो रहा है उसमें प्रसन्नता नहीं होती, तो समझना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य में कोई दोष है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार समस्त सृष्टि व्यक्ति को सर्वदा सुन्दर बनाने के लिए स्वभाव से ही गतिशील रहती है, क्योंकि सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है, जिसमें अनन्त नित्य सौन्दर्य है। परन्तु जब व्यक्ति प्राप्त विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग नहीं करता, तब प्राकृतिक न्याय से उसके बल का ह्रास होने लगता है और विवेक आच्छादित हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी चिन्मयता से जड़ता, असीम से ससीम और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर स्वतः जाने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि यह अपनी ही असावधानी का परिणाम है। इस दशा में प्राणी जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न नहीं रह पाता।

बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में समस्त विकास निहित हैं। इस दृष्टि से अवनति का होना प्राणी की अपनी असावधानी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा उत्तरोत्तर उन्नति की ओर गतिशील होना है। किन्तु जब व्यक्ति मिली हुई

स्वाधीनता का दुरुपयोग करने लगता है, तभी उसकी अवनति होती है। अथवा यों कहो कि जब व्यक्ति उस अनन्त उदारता का दुरुपयोग करता है, तभी उसका अहित होता है। व्यक्ति को सामर्थ्य के सदुपयोग तथा दुरुपर्योग की, विवेक के आदर तथा अनादर की स्वाधीनता इसलिए नहीं मिली है कि वह अपने द्वारा ही अपना सर्वनाश कर डाले और उसका कारण यह मान बैठे कि प्राकृतिक विधान में कोई नियम नहीं है, चाहे जो कुछ, चाहे जब हो जाए।

पर बात ऐसी नहीं है। वृक्षों में भी जो गति हो रही है, वह भी एक नियम के अधीन ही है। जिन वृक्षों से दूसरे वृक्ष पोषित होते हैं, उनकी आयु और स्वाधीनता उन वृक्षों की अपेक्षा अधिक होती है, जिनसे दूसरे वृक्षों की क्षति होती है। जब वृक्ष में गति भी अवैधानिक नहीं है, तो फिर यह मान लेना कि जो कुछ हो रहा है, वह किसी विधान के अनुरूप नहीं है, क्या युक्ति—युक्त है ? कदापि नहीं। जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है वह मंगलमय विधान से हो रहा है, तब प्रत्येक परिस्थिति में वह निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है। निर्भय और निश्चिन्त प्राणी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर स्वतः करने लगता है। करने में सावधान वही रहता है, जो होने में प्रसन्न है।

कर्त्तव्य—विज्ञान, और अध्यात्म—विज्ञान उसी विधान की अभिव्यक्ति है, जिसके अधीन समष्टि शक्तियाँ क्रियाशील हैं। व्यक्ति और समष्टि शक्तियों में अन्तर केवल इतना है कि व्यक्ति को जो स्वाधीनता है, वह समष्टि शक्तियों को नहीं है। कारण, कि व्यक्ति कर्त्तव्य—विज्ञान के विपरीत अकर्त्तव्य, योग विज्ञान के विपरीत भोग और अध्यात्म—विज्ञान के विपरीत भौतिक विकास में ही जीवन की पूर्णता मान बैठता है। यह मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है, सदुपयोग नहीं। स्वाधीनता दुरुपयोग के लिए नहीं, अपितु सदुपयोग के लिए ही मिली थी।

यदि व्यक्ति उस मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करता, तो वह जड़ता, पराधीनता एवं शक्तिहीनता में आबद्ध न होता। स्वाधीनता

जिस अनन्त की देन है, समष्टि शक्तियाँ उसी के अधीन क्रियाशील हैं। इसी कारण जो व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, उसके लिए परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है। परन्तु उस प्रतिकूलता में व्यक्ति का अहित नहीं है, अपितु उसके सुधार की ही एक व्यवस्था है। परन्तु भोगजनित सुखासक्ति के कारण प्राणी को प्राकृतिक व्यवस्था दुःखद प्रतीत होती है। अथवा यों कहो कि दुःख से भयभीत प्राणी प्राकृतिक विधान का आदर नहीं करता। यद्यपि दुःख विकास का मूल है। पर यह रहस्य वही जानता है जिसे प्राकृतिक विधान में अविचल श्रद्धा होती है और जो प्राप्त स्वाधीनता का दुरुपयोग, नहीं करता। स्वाधीनता के सदुपयोग में ही स्वाधीनता की सुरक्षा निहित है।

उस अनन्त का कैसा अद्‌भुत विधान है कि पराधीनता की वेदना में स्वाधीनता की साधना और स्वाधीनता की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। ऐसे अनुपम विधान से मिले हुए विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग क्या प्राणी को नहीं करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य करना चाहिए।

समष्टि शक्तियों की क्रियाशीलता में कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं है। यह नियम है कि जिसमें कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं होता, उसके द्वारा होने वाली क्रियाएँ अहितकर नहीं होतीं। कर्त्तृत्व का अभिमान उसी में नहीं होता, जो अहम्‌भाव—शून्य है। अहम्‌भाव—शून्य वही होता है, जो काम रहित है और कामरहित वही है, जिसमें भेद तथा भिन्नता की गंध नहीं है। इस दृष्टि से समष्टि शक्तियों में किसी से भेद तथा भिन्नता नहीं है। इसी कारण उनके द्वारा जो कुछ हो रहा है, उससे किसी का अमंगल नहीं हो सकता।

अतः किसी भी व्यक्ति को समष्टि शक्तियों से भयभीत नहीं होना चाहिए, अपितु मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग द्वारा निर्भय हो जाना चाहिए। परन्तु विवेक के अनादर से प्राणी प्राप्त बल का दुरुपयोग करने लगता है, जो वास्तव में करने में सावधान न रहना है। कर्त्तव्यविज्ञान योगविज्ञान का साधन है, क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ

प्राणी ही रागरहित होकर भोग–वासनाओं का अन्त कर योग में प्रवेश करता है। योगविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का साधन है, क्योंकि योग की पूर्णता में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा चिन्मयता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति को जो विवेक प्राप्त है उसके द्वारा कर्त्तव्य–विज्ञान से योग–विज्ञान में और योग–विज्ञान से अध्यात्म–विज्ञान में प्रवेश करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता में भोगवासनाओं का अन्त तथा वस्तुओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वतः सिद्ध है।

यद्यपि समस्त प्राणियों का वास्तविक उद्देश्य एक है, परन्तु योग्यता तथा रुचि एवं परिस्थिति–भेद से प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए अपनी–अपनी रुचि के अनुसार कर्त्तव्य–पालन की पद्धति को स्वीकार करता है। पद्धति चाहे जो हो, पर उसमें अकर्त्तव्य की गंध न हो, तो प्रत्येक पद्धति के द्वारा व्यक्ति क्रमशः उत्तरोत्तर वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए समर्थ हो जाता है, क्योंकि साधन–पद्धतियाँ उस अनन्त की ही विभूति हैं।

अब विचार यह करना है कि व्यक्ति किस मान्यता को स्वीकार कर, किस स्तर से उद्देश्य–पूर्ति के लिए कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो रहा है? कर्त्तव्य वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो और प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। इस कारण कर्त्तव्यपालन में असमर्थता ओर असफलता की गंध भी नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति में क्रियाशक्ति, भाव–शक्ति और विवेकशक्ति तीनों ही किसी–न–किसी अंश में विद्यमान हैं। अथवा यों कहो कि इन तीनों में से किसी एक काल में किसी एक की प्रधानता और अन्य की गौणता रहती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता अधिक हो और भाव तथा विवेक की गौणता हो, वह भौतिक विकास में ही उत्कृष्टता मानता है और विवेकपूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान कार्य को सुन्दर–से–सुन्दर करने का प्रयास करता है। ज्यों–ज्यों भाव की पवित्रता तथा कार्य कुशलता पूर्वक वर्त्तमान कार्य को सुन्दर करता जाता है, त्यों–त्यों स्वभाव से स्वार्थभाव गलता जाता है और करने के राग की भी

निवृत्ति होती जाती है। ज्यों—ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है और क्रियाजन्य सुख का राग मिटता जाता है, त्यों—त्यों क्रियाशक्ति भावशक्ति में विलीन होती जाती है। ज्यों—ज्यों क्रियाशक्ति भावशक्ति में विलीन होती जाती है, त्यों—त्यों विवेक का प्रकाश स्पष्ट होता जाता है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही क्रिया, भाव और विवेक में अभिन्नता हो जाती है।

जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता की प्रधानता है, वह अपने को यदि सेवक मान लेता है और समस्त विश्व के साथ एकता स्वीकार कर लेता है, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक करने में सावधान हो सकता है। उसके द्वारा सेवा स्वतः होती है और उसका परिणाम सन्दर समाज का निर्माण होता है। अथवा यों कहो कि वह करता है सेवा और होता है सुन्दर समाज का निर्माण, क्योंकि सेवा व्यक्ति और समाज के भेद का नाश कर देती है, जिसके होते ही व्यक्ति अपने में और विश्व में भेद नहीं कर पाता। अथवा यों कहो कि विश्वरूप हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वतः उस अनन्त की, जिसके किसी अंश में समस्त सृष्टि है, प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है।

जिस व्यक्ति में विवेक की प्रधानता है, वह स्वभाव से ही इन्द्रियों के ज्ञान पर सन्देह करता है। ज्यों—ज्यों सन्देह की वेदना सबल तथा स्थायी होती है, त्यों—त्यों इन्द्रिय—ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाएँ स्वतः मिटती जाती हैं। जिस काल में सन्देह की वेदना असह्य हो जाती है, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति और समस्त, कामनाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में निस्सन्देहता, स्वाधीनता, अमरत्व और चिन्मयता स्वतः सिद्ध है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति वस्तुओं की दासता से रहित कर देती है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान सदा के लिए गल जाता है, जिसके गलते ही भेद नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वात्मभाव से, कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वतः होने लगती है।

उसके चित्त में राग–द्वेष की गन्ध तक नहीं रहती, अथवा यों कहो कि असंगता और अभिन्नता उसका स्वभाव हो जाता है। विवेक के स्तर से व्यक्ति जो कुछ करता है, वह राग–निवृत्ति का साधन है और जो है, वह स्वरूप है। असंगता में स्वाधीनता और अभिन्नता में प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है।

भावप्रधान व्यक्ति में सृष्टि के प्रकाशक के प्रति अविचल श्रद्धा तथा विश्वास स्वतः होता है। अथवा यों कहो कि वह उस पर विश्वास करता है, जो देश–काल की दूरी से रहित है, अर्थात् जो सर्वत्र–सर्वदा सर्वरूप से अपनी महिमा में आप स्थित है। भावप्रधान व्यक्ति उस अनन्त के विश्वास, सम्बन्ध तथा प्रीति को ही अपना अस्तित्व जानता है, क्योंकि विश्वास और विश्वासी में तथा प्रेम और प्रेमी में विभाजन सम्भव नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्ति में तो अनेक विश्वास होते हैं; तो फिर विश्वासी और विश्वास में भेद क्यों नहीं हो सकता ? जिसमें अनेक विश्वास होते हैं, जिसका अनेक से सम्बन्ध होता है, वह वास्तव में विश्वासी नहीं है। विश्वासी वही है, जिसमें दो विश्वास नहीं हैं। अथवा यों कहो कि विश्वास विकल्प–रहित तभी होता है, जब उस पर किया जाय जिसे जानते नहीं, पर फिर भी मानते हैं, अर्थात् विश्वासी जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि–ज्ञान से नहीं जानते। उसके द्वारा जो जो कुछ होता है, वह पूजा है और कुछ नहीं, क्योंकि जब उसका अस्तित्व प्रेमास्पद के प्रेम से भिन्न कुछ है ही नहीं, तब उसके द्वारा प्रेमास्पद की पूजा के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? इतना ही नहीं, प्रीति निर्मित दृष्टि से किसी ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नहीं। अतः वह जो कुछ करता है, वह पूजा है और जो कुछ हो रहा है वह उसके प्रेमास्पद की लीला है।

क्रिया–प्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ सेवा, विवेकप्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ राग–रहित होने का साधन और भाव–प्रधान व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा होती है। कर्त्तव्य का आरम्भ चाहे जिस मान्यता तथा स्तर से क्यों न हो, पर अन्त में सभी की एकता

अपने आप हो जाती है। कारण, कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनों ही शक्तियाँ किसी एक में ही हैं, अथवा यों कहो कि इन तीनों के सदुपयोग से जिस उद्देश्य की पूर्ति होती है वह भी एक ही है। इतना ही नहीं, उस अनन्त की सामर्थ्य ही व्यक्ति में क्रियारूप से, उस अनन्त का प्रेम ही व्यक्ति में भावरूप से और उस अनन्त का नित्यज्ञान ही व्यक्ति में विवेक रूप से भासित होता है। इस दृष्टि से समस्त साधन—पद्धतियाँ उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति हैं।

अतः साधन का आरम्भ किसी भी पद्धति से क्यों न हो, परिणाम में भेद नहीं है। यदि किसी को भेद की प्रतीति होती है, तो उसे समझना चाहिए कि उसके करने में कोई असावधानी है। प्रत्येक कर्त्तव्य की पूर्णता में दूसरे कर्त्तव्य की उत्पत्ति स्वतः सिद्ध है। इस क्रम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी—अपनी योग्यता, रुचि व सामर्थ्य के अनुरूप कर्त्तव्य—पालन द्वारा चित्त शुद्ध कर सकता है।

चित्त की शुद्धि में ही समस्त विकास निहित है। कारण, कि चित्त शुद्ध हुए बिना असमर्थता का नाश नहीं होता और न अभाव का ही अभाव होता है और न अगाध, अनन्त रस की ही उपलब्धि होती है। इतना ही नहीं, चित्त की शुद्धि में ही उत्कृष्ट परिस्थिति एवं आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति भी निहित है, क्योंकि चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी वस्तुओं के अभाव में आबद्ध हो जाता है, जिससे उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। करुणा, उदारता, आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति उन्हीं प्राणियों में होती है, जो पराये दुःख को अपने दुःख से भी अधिक महत्त्व देते हैं, अर्थात् जो दुःखियों को देखकर अपना दुःख भूल जाते हैं।

यह नियम हे कि ज्यों—ज्यों प्राणी अपने दुःख को भूलता जाता है और दूसरों के दुःख को अपनाता जाता है, त्यों—त्यों उसका चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है और ज्यों—ज्यों चित्त शुद्ध होता जाता है, त्यों—त्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है। ज्यों—ज्यों करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है, त्यों—त्यों प्राकृतिक विधान के

अनुसार सेवा–सामग्री स्वतः प्राप्त होती जाती है। करुण प्राणी ज्यों–ज्यों प्राप्त सेवा–सामग्री का सदुपयोग करता जाता है, त्यों–त्यों सेवा–सामग्री की स्वतः वृद्धि होती जाती है, अर्थात् वस्तुओं का अभाव शेष नहीं रहता और न करुण प्राणी में वस्तुओं की दासता ही शेष रहती है और न जिसकी सेवा करता है, उनके मोह में ही आबद्ध होता है, अपितु उसमें उत्तरोत्तर निर्मोहता तथा स्नेह की एकता का प्रादुर्भाव होता जाता है। निर्मोहता से अविवेक का अन्त हो जाता है और स्नेह की एकता पारस्परिक संघर्षों को खा लेती है। इस दष्टि से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण भी चित्त की शुद्धि में ही निहित है।

चित्त की शुद्धि के बिना उदारता की अभिव्यक्ति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उदारता उन्हीं प्राणियों को प्राप्त होती है, जो पतित–से–पतित प्राणी को भी अपनाने में हिचकते नहीं हैं, अर्थात् प्रीति ही जिनका स्वभाव बन गया है। घृणा तथा तिरस्कार की जिनके चित्त में गंध भी नहीं है, जो सभी रूपों में अपने प्रीतम का ही दर्शन करते हैं, अथवा यों कहो कि जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया है। जब प्राणी प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता, तब अनेक विश्वास एक विश्वास में और अनेक चिन्तन एक चिन्तन में स्वतः विलीन हो जाते हैं, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और उसी काल में उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है। उदारता की अभिव्यक्ति भेद तथा भिन्नता की नाशक है। जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता, तब तक उदारता साधनरूप है और जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, तब उदारता प्राणी का स्वरूप हो जाती है, जिसके होते ही सभी के प्रति आत्मीयता का भाव स्वतः जाग्रत होता है। आत्मीयता से भी भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। भेद का नाश पराधीनता तथा संग्रह की भावना को खा लेता है और भिन्नता मिटते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस दृष्टि से करुणा, उदारता तथा आत्मीयता की अभिव्यक्ति

चित्त की शुद्धि में ही निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति के बिना असमर्थता का अन्त नहीं होता, क्योंकि करुणा से ही प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय और प्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। जिन प्राणियों में करुणा उदित नहीं होती, वे प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय की तो कौन कहे, दुर्व्यय कर बैठते हैं, जिससे समष्टि शक्तियों के द्वारा उनकी विरोधी शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही वे प्राणी भयभीत हो जाते हैं। यह नियम है कि ज्यों—ज्यों प्राणी भयभीत होता जाता है, त्यों—त्यों संग्रही होता जाता है। ज्यों—ज्यों संग्रही होता जाता है, त्यों—त्यों जड़ता तथा पराधीनता में आबद्ध होता जाता है और ज्यों—ज्यों जड़ता आदि में आबद्ध होता जाता है, त्यों—त्यों असमर्थ होता जाता है। अर्थात् जो करना चाहिए उसे कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगता है, जिससे उसका और दूसरों का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए चित्त—शुद्धि अनिवार्य है।

उदारता की अभिव्यक्ति में ही अभाव का अभाव निहित है क्योंकि उदारता के बिना न तो सर्वात्मभाव की ही उत्पत्ति होती है, न स्नेह की ही एकता उदित होती है और न प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय ही हो पाता है। उदारचरित्र प्राणी की सेवा के लिए प्राकृतिक विधान लालायित रहता है। इस कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इच्छाओं की निवृत्ति से नित्य—योग, चिर—शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता, तथा आवश्यकता की पूर्ति से दिव्यचिन्मय प्रीति की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, क्योंकि प्रीति ही प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति में ही अगाध—अनन्त रस की उपलब्धि निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि ही है।

करुणा भौतिक विकास का मूल है और उदारता तथा आत्मीयता में ही स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति है, अथवा यों कहो कि करुणा सामर्थ्य की, उदारता स्वाधीनता की ओर आत्मीयता प्रेम की प्रतीक है। सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन

की पूर्णता निहित है।

ज्यों–ज्यों प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ, अर्थात् करने में सावधान होता जाता है, त्यों–त्यों उसके चित्त की अशुद्धि स्वतः मिटती जाती है। ज्यों–ज्यों उसके चित्त की अशुद्धि मिटती जाती है, त्यों–त्यों चित्त उसके अधीन होता जाता है। यदि चित्त अपने अधीन न प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि कर्त्तव्यपालन में कोई दोष है। कारण, कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग का अन्त कर देती है, जिसके होते ही चित्त स्वाधीन हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त का निरोध अपने आप होने लगता है। चित्त के निरोध में ज्यों–ज्यों गाढ़ता होती जाती है, त्यों–त्यों आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वतः होता जाता है।

आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव जड़ता को चिन्मयता में, पराधीनता को स्वाधीनता में और मृत्यु को अमरत्व में विलीन कर देता है, जिसके होते ही चित्त से असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म–जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अर्थात् वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत का जो जीवन है, उससे एकता हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्वाधीनता प्राप्त होती है।

स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट न होने पर अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही चित्त जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती, अथवा यों कहो कि चित्त का निरोध, चित्त से असंगता और चित्त का अभाव हो जाने में ही चित्त–शुद्धि की परावधि है। यह नियम है कि जब तक चित्त सर्वांश में शुद्ध नहीं होता, तभी तक वह अपने अधीन नहीं होता, न उससे सम्बन्ध ही विच्छेद होता है और न उसका अभाव, अर्थात् चित्त चिन्मय नहीं हो पाता है।

सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही प्राणी में चित्त के निरोध की सामर्थ्य आती है। चित्त के निरोध से ही चित्त से सम्बन्ध–विच्छेद और सम्बन्ध से ही चित्त का अभाव हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं, जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न हैं।

चित्त–शुद्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नहीं छोड़ना चाहिए और न उससे कभी निराश होना चाहिए, प्रत्युत् चित्त–शुद्धि के लिए नित–नव आशा तथा उत्कण्ठा जाग्रत रहनी चाहिए। तभी चित्त शुद्ध हो सकता है और चित्त–शुद्ध होने पर समस्त समस्याएँ हल हो सकती हैं। इस दृष्टि से चित्त–शुद्धि अनिवार्य है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। कारण, कि चित्त स्वयं कर्त्ता नहीं है। वह तो अलौकिक शक्ति है, अथवा यों कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा है। चित्त इतनी गहरी खाई है कि जिसकी थाह उस समय तक लग नहीं सकती, जिस समय तक उसमें से उस अशुद्धि का अन्त न कर दिया, जो प्राणी ने अपने प्रमाद से उसमें अंकित कर दी है।

विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग, परिस्थिति में जीवन–बुद्धि आदि कारणों से प्राणी चित्त को अशुद्ध करता है। विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग और परिस्थिति में जीवन–बुद्धि स्वीकार करना प्राकृतिक दोष नहीं है। जाने हुए को न मानना उसी का दोष है, जो नहीं मानता है। जाने हुए के विपरीत सामर्थ्य का व्यय भी उसी का दोष है, जो कर्त्ता है। सतत परिवर्तनशील परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि स्वीकार करना भी उसी का दोष है, जिसने स्वीकार किया है। वह कौन सा देवता है जो ज्ञान का आदर, सामर्थ्य का सद्व्यय तथा परिस्थितियों से विमुखता स्वीकार नहीं करने देता ? उस देवता ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। जब प्राणी उसकी खोज करने लगता है, तो वह देवता उसके प्रमाद से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी की अपनी भूल है। भूल को भूल जान लेने पर वह स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।

यदि प्राणी चित्त–शुद्धि में स्वाधीन न होता, तो उसका प्रश्न ही उत्पन्न न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वही समस्या उत्पन्न होती है, जिसका हल अनिवार्य है। परन्तु प्राणी जब असावधानी से उत्पन्न हुई समस्याओं से भयभीत हो जाता है, तब समस्या हल

करने की सामर्थ्य होते हुए भी समस्या हल नहीं कर पाता। चित्त की अशुद्धि चाहे जितनी पुरानी क्यों न हो, पर वर्तमान में मिट सकती है। जिस प्रकार अनन्त काल के अन्धकार को वर्तमान का प्रकाश खा लेता है, उसी प्रकार दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है। परन्तु कब ? जब प्राणी को असह्य हो जाय। अशुद्धि उन्हीं व्यक्तियों को असह्य होती है, जो शुद्धि को वर्तमान को वस्तु मानते हैं। अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उसी में शुद्धि का उपाय विद्यमान है। इस दृष्टि से जिसे चित्त में अशुद्धि भासती है, उसमें शुद्धि की सामर्थ्य विद्यमान है। अतः विद्यमान सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा प्राणी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिसको है, क्या वह स्वयं चित्त है, अथवा चित्त से अतीत ? यदि वह अपने को चित्त से अलग जानता है, तो उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ ? यदि चित्त से अलग नहीं मानता, तो उसने अपनी अशुद्धि का चित्त में आरोप क्यों किया ? प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी—न—किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता न हो, उसे उसका न तो भास ही हो सकता है और न उससे सम्बन्ध ही हो सकता है। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान है, अथवा जिसे चित्त का भास होता है, अथवा जो चित्त से सम्बन्ध स्वीकार करता है, वह भी उसी धातु से निर्मित है, जिससे चित्त। परन्तु एक धातु से निर्मित होने पर भी गुणों की भिन्नता है। गुणों की भिन्नता के कारण ही उसे चित्तकी अशुद्धि का ज्ञान, चित्त से सम्बन्ध और चित्त की प्रतीति होती है। जिसे चित्त शुद्ध करना है, उसे चित्त से स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता स्वीकार करना अनिवार्य है।

जब उसमें चित्त के अशुद्ध होने की वेदना जाग्रत हो जाती है, तब वह चित्त की अशुद्धि से होने वाले सुखका त्याग करने में समर्थ होता है। ज्यों—ज्यों वह उस सुख का त्याग करता जाता है, त्यों—त्यों चित्त स्वतः शुद्ध होता जाता है। प्राणी जिस काल में अशुद्धि जनित सुख का सर्वांश में त्याग कर देता है, उसी काल में

चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का ज्ञान और शुद्धि का उपाय तथा चित्त की शुद्धि—इन तीनों में अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्—भाव सदा के लिए गल जाता है और फिर भेद तथा भिन्नता जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से अहम्—भाव की भूमि में ही समस्त अशुद्धि अंकित है, जिसकी निवृत्ति तभी सम्भव है, जब व्यक्ति सावधानीपूर्वक जो कर सकता है, उसे कर डाले और जो नहीं कर सकता है उसके लिए लेशमात्र भी चिन्ता न करे। अर्थात् निश्चिन्त हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। अथवा यों कहो कि जो कर सकता है उसे कर डालने पर, कर्त्तृत्व का अभिमान शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने से अकर्त्तव्य की गन्ध तक नहीं रहती और कर्त्तव्यपरायणता स्वाभाविक हो जाती है, जिसके होते ही जो कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त का मंगलमय विधान ही प्रतीत होता है।

अब विचार यह करना है कि चित्त की अशुद्धि से होने वाला सुख क्या है ? पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुखी होना तथा जड़ता में चिन्मयता, अभाव में भाव और मृत्यु में जीवन को स्वीकार करना ही अशुद्धिजनित सुख है। अशुद्धि—जनित सुखलोलुपता की भूमि कामना—अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना और कामनापूर्ति के सुख में आबद्ध होना ही है। जब प्राणी कामनापूर्ति के सुख की दासता में जड़ता, अभाव, पराधीनता एवं मृत्यु का अनुभव कर लेता है, तब वह अशुद्धि—जनित सुखलोलुपता का त्याग करने में समर्थ होता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित हो जाता है। जिसके होते ही करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने में समर्थ है।

२५.६.५६

मूल्य
अठारह रुपये

4000 प्रतियाँ
अक्टूबर 1998

Chitralekhaa-442415